मलधारी श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित एवं
खरतरगच्छविभूषण साधु सोमगणि की लघुवृत्ति पर आधारित

उपदेश पुष्पमाला

का

हिन्दी अनुवाद

अनुवादिका
साध्वी सम्यग्दर्शना श्री

प्रेरिका
श्री शशिप्रभा श्रीजी

संपादक
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक-श्री अ. भा. खरतरगच्छ महासंघ, मुम्बई
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष प्रभावी दादा गुरूदेव

दादा
श्री जिनदत्तसूरिजी

मणिधारी दादा
श्री जिनचन्द्रसूरिजी

दादा
श्री जिनकुशलसूरिजी

दादा
श्री जिनचन्द्रसूरिजी

सादर समर्पण

पू. सज्जनश्रीजी म. सा.

जिनका हृदय दूसरों का कष्ट देखने से
सदा पिघल जाता था
दूसरों के उपकार के लिये अपना
सर्वस्व देने में जो कभी हिचकते नहीं थे।
ऐसी दयार्णव आगम ज्योति
आशु कवयित्री प्रवर्तिनी
श्री सज्जन श्री जी म. सा. के
जन्म शताब्दी वर्ष पर सादर समर्पित

प्रेरणा स्रोत

संघ रत्ना
पू. शशिप्रभाश्रीजी म. सा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राच्य विद्यापीठ ग्रंथमाला

मलधारी आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिकृत

उपदेशपुष्पमाला

(खरतरगच्छ विभूषण साधु सोमगणिकृत टीका पर आधारित
हिन्दी अनुवाद सहित)

अनुवादिका
साध्वी सम्यग्दर्शनाश्री

संस्कृत छाया
प्रो. माखनलाल सोनी

सम्पादन एवं भूमिका
डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक
अ.भा. खरतरगच्छ महासंघ बम्बई
प्राच्यविद्यापीठ शाजापुर (म.प्र.)
कुशल ज्ञान सज्जन प्रकाशन जयपुर (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृपावृष्टि - दादागुरुदेव युगप्रधान श्री जिनकुशलसूरि
आज्ञा - गच्छाधिपति श्री कैलाश सागर सूरीश्वर जी म.सा.
आशीर्वाद - उपाध्याय प्रवर श्री मणिप्रभसागर जी म.सा.
दिशा-निर्देश - आदरणीय प.पू. श्री मनीतप्रभसागर जी म.सा.
प.पू. मैत्रीप्रभसागरजी म.सा.
अमिदृष्टि - आगम ज्योति प्रवर्तिनी श्री सज्जन श्री जी म.सा.
पुस्तक - उपदेश पुष्पमाला का हिन्दी अनुवाद
प्रेरणा - संघरत्ना श्री शशिप्रभाश्री जी म.सा.
पू. प्रियदर्शना श्री जी म.सा.
अनुवादिका - प.पू. श्री सम्यग्दर्शनाश्री जी म.सा.
सम्पादन एवं भूमिका- डॉ. सागरमलजी जैन
संस्कृत छाया - प्रो. माखनलाल जी सोनी
प्रूफ संशोधन - साध्वी श्री कनकप्रभा श्री जी म.सा.
साध्वी श्री सम्यक्प्रभा श्री जी म.सा. (प्रियंवदा)
अ.भा. जैन श्वे. श्री खरतरगच्छ महासंघ मुम्बई
प्रकाशक - कुशल ज्ञान सज्जन प्रकाशन, जयपुर
प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर
प्रकाशन वर्ष - वि.सं.२०६४ प्र. सज्जनश्री जी म.सा. जन्म शताब्दी वर्ष
अक्टूम्बर २००७
प्राप्ति स्थान - १. श्री पद्मचन्दजी नाहटा, अध्यक्ष खरतरगच्छ महासंघ
जगमोहनमलिक लेन कलकत्ता (प.बं.)
२. अभयभंसाली, भंसालीहाउस, सदर बाजार
पो. रायपुर (छत्तीसगढ़)
३. प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)
मूल्य - ५०/- (पचास रुपये)
मुद्रक - आकृति ऑफसेट
५, नईपेठ, उज्जैन (म.प्र.)
दूरभाष - ०७३४-२५६१७२०
मोबाईल - ९८२७६-७७७८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभाशीर्वाद

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुयी कि, खरतरगच्छ विभूषण साधु सोमगणि द्वारा व्याख्यायित एवं मलधारी आचार्य हेमचन्द्र द्वारा रचित पुष्पमाला का हिन्दी अनुवाद करने का सफल प्रयास आगम ज्योति प्रवर्तिनी श्री सज्जन श्री जी म.सा. की विदुषी शिष्या साध्वी श्री सम्यग्दर्शना श्री जी ने किया है, वह प्रशंसनीय है। विद्वद् वर्ग के साथ सामान्य वर्ग के लिए भी यह अनुवादित ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा ऐसा मेरा आत्म विश्वास है। प्रस्तुत पुष्पमाला के प्रकाशन का कार्य अ.भा.जै. श्वे. खरतरगच्छ महासंघ ने करवाया है, जो अनुमोदनीय है। इसी प्रकार खरतरगच्छ के पूर्वाचार्यों के साहित्य का प्रकाशन करवाते रहे यही शुभेच्छा..... साध्वी जी ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति करती रहे इसी शुभआशीर्वाद के साथ.....

हितेच्छु

आचार्य जिन कैलाश सागर सूरि

बालोतरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक अनोमदनीय कार्य

खरतरगच्छ महासंघ खरतरगच्छीय विद्वान साधु सोमगणि के द्वारा व्याख्यायित एवं मलधारी हेमचन्द्र सूरि द्वारा रचित पुष्पमाला के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन करने जा रहा है, जिसका अनुवाद विदुषी साध्वी श्री सम्यग्दर्शनाश्री जी ने किया है, जो प्रशंसनीय व अनुमोदनीय है। खरतरगच्छ के सभी साधु–साध्वियों को मिलकर यही कार्य करना चाहिये, जिससे कि खरतरगच्छ का सारा साहित्य पुनः प्रकाश में आ जाए तथा जिनका हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ हो तो उनका हिन्दी अनुवाद करके सर्व जन के लिए उपयोगी बनाये। साध्वी जी को मेरा अन्तःकरण से आशीर्वाद है कि वे जैन साहित्य, शासन और संघ की सेवा में निरंतर आगे बढ़ती रहें।

महत्तरा विनीताश्री
उज्जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंगलमय आशीर्वाद

विद्वानों में अग्रगण्य खरतरगच्छनभमणि श्री साधु सोमगणि द्वारा व्याख्यायित पुष्पमाला (उपदेशमाला) टीका का हिन्दी अनुवाद। सुयोग्या विदुषी साध्वी श्री सम्यग्दर्शना श्री जी ने किया है, जो स्तुत्य है। आज आवश्यकता है कि हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा रचित प्राकृत– संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी आदि प्रचलित लोक भाषाओं में अनुवाद होकर उनका प्रकाशन हो। यह सर्व विदित है कि खरतरगच्छ में एक से बढ़कर विद्वान हुए है। खरतरगच्छ के आचार्यों का विपुल साहित्य उपलब्ध है। जिन ग्रन्थों की केवल सूची से ही 600 पृष्ठों की एक पुस्तक तैयार हो गयी हो, जिसका संकलन वर्तमान के विद्वानों की कोटि में अग्रगण्य महोपाध्याय विनय सागर जी ने अथक परिश्रम के साथ किया है।

खरतरगच्छ के ग्रन्थों पर शोध कार्य भी हो रहा है, एवं अनुवाद भी हो रहा है तथा प्रकाशन भी हो रहे हैं। इसी श्रृंखला में पुष्पमाला का यह अनुवाद अ.भा. जैन श्वे. श्री खरतरगच्छ महासंघ की ओर से प्रकाशित हो रहा है, एतदर्थ साधुवाद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्वी श्री सम्यग्दर्शनाश्री जी द्वारा अनुवादित पुष्पमाला ग्रन्थ साधु–साध्वी एवं श्रावक–श्राविका सभी वर्ग के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में जीवनशैली को सम्यक् बनाने की विधि का विवेचन किया गया है।

साध्वी श्री सम्यग्दर्शनाश्रीजी इसी प्रकार साहित्य सेवा में प्रगति करती रहे यही शुभाशीर्वाद।

शासन सेविका शशिप्रभाश्री

जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक स्तुत्यप्रयास

अखिल भारतीय खरतरगच्छ महासंघ की हार्दिक इच्छा है कि हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा रचित साहित्य को हिन्दी में उपलब्ध कराया जाये, जिससे समाज–जनों को उनके स्वाध्याय का लाभ मिले एवं वे अपनी दैनिक चर्या को तदनुरूप बनाकर जीवन जीने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें। हमें अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है कि विद्वद्वर्य हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित उपदेश–पुष्पमाला की साधु सोमगणि की टीका का हिन्दी अनुवाद साध्वी श्री सम्यक्दर्शना श्री जी म.सा. द्वारा किया गया है एवं जिसका संपादन डॉ. सागरमल जी सा जैन ने किया है। इसी तरह हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा रचित साहित्य का अनुवाद गच्छ के सभी साधु–साध्वीजी करते रहेंगे तो हमारा समाज उन ग्रन्थों के स्वाध्याय से अधिक लाभान्वित हो सकेगा।

साध्वी श्री जी के प्रति बहुत–बहुत आभार प्रकट करते हुये उनके लिये यही शुभ कामना है कि वे इसी तरह से साहित्य सेवा में प्रगति करती रहें।

अ.भा. श्री जैन श्वे. खरतरगच्छ महासंघ अध्यक्ष

मंगल प्रभात लोढ़ा

ता. 21.06.2007

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुवाद

अत्यन्त हर्ष की अनुभूति हो रही है कि अखिल भारतीय खरतरगच्छ महासंघ को उपदेश–पुष्पमाला ग्रन्थ प्रकाशित करने का लाभ प्राप्त हुआ। हमें गौरव है कि खरतरगच्छ के आचार्यों ने हमारे लिये साहित्य का अक्षय कोष तैयार करके छोड़ा है, लेकिन हमें उस साहित्य निधि का पता होना चाहिये। हमारे पूर्वाचार्य हमारे लिये अथाह ज्ञान रूपी नवनीत रखकर गये है, पर जरूरत है हमें उस ज्ञान रूपी नवनीत से अपने मन को कोमल एवं करूणा से परिपूर्ण बनाने का। हमारा लक्ष्य है कि खरतरगच्छ के आचार्यों का जो विपुल साहित्य है, उस को उद्घाटित किया जाये, जिससे आने वाली पीढ़ी उसमें निहित ज्ञान को प्राप्त कर सके और गौरव का अनुभव कर सके। साध्वी श्री के इस सफल प्रयास का मैं हार्दिक अनुमोदन करता हूँ कि उन्होंने अपने श्रम द्वारा हेमचन्द्र द्वारा रचित और खरतरगच्छीय साधु सोमगणि द्वारा व्याख्यायित इस ग्रन्थ का अनुवाद कर, हम सबको ज्ञान–अर्जन हेतु सुविधा उपलब्ध करवायी, एतदर्थ उन्हें बहुत–बहुत साधुवाद।

अ. भा. श्री जैन श्वे. खरतरगच्छ महासंघमहामंत्री

रुमिल बोहरा

21.06.2007

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूमिका

प्रो. सागरमल जैन

जैन धर्म साधना प्रधान धर्म है। साधना आचार परक होती है और यह आचार ही व्यक्ति के नैतिक जीवन का आधार होता है। धर्म नैतिकता विहीन नहीं हो सकता है। नैतिकता भी धर्म विहीन नहीं हो सकती है। नैतिकता विहीन धर्म और धर्म विहीन नैतिकता दोनों ही मिथ्या कल्पनायें है। एक पाश्चात्य दार्शनिक ब्रेडले ने कहा था कि "यदि नैतिकता धर्म विहीन है तो वह नैतिक नहीं और यदि धर्म नैतिकता विहीन है तो वह धर्म, धर्म नहीं है।" संक्षेप में धर्म और नैतिकता एक दूसरे से जुड़े हुये है। धर्म का सार तत्त्व नैतिक जीवन जीना ही है।

नैतिक जीवन या धार्मिक जीवन जीने के लिये मार्गदर्शन या उपदेश आवश्यक होता है, यही कारण रहा है कि विश्व में जो भी प्रमुख धर्म आये उनमें नैतिक जीवन के लिये उपदेश दिये गये, जो कालान्तर में धर्मग्रन्थ बन गये। यदि हम विश्व के किसी भी धर्म के धर्म–ग्रन्थ को ले, तो मुख्य रूप से उस धर्म ग्रन्थ में आस्था के पोषण के साथ–साथ नैतिक आचरण से सम्बन्धित उपदेश परक भाग ही अधिक होता है। चाहे हिन्दु धर्म मे उपनिषद् या उनके भी सार रूप तत्त्व में हम गीता को ही ले तो गीता भी एक उपदेशपरक ग्रन्थ ही है। इसी प्रकार बौद्ध धर्म के त्रिपिटिक साहित्य और उसमें भी विशेष रूप से धम्मपद या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुत्तनिपात को ले तो वे भी उपदेशपरक ग्रन्थ ही हैं। चाहे बाईबिल हो या कुरान, कोई भी धर्म ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें नैतिक जीवन के लिये उपदेश न हो।

जैन धर्म में भी प्राचीनकाल से ही आचारांग, उत्तराध्ययन आदि ऐसे ग्रन्थ रहे है, जो मुख्य रूप से उपदेशपरक है। संक्षेप में कहे तो जैन धर्म में उपदेश परक ग्रन्थों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। इन उपदेशपरक ग्रन्थों मे भी जहॉ तक प्राचीन ग्रन्थों का प्रश्न है उनमें नैतिक आचरण या सदाचरण सम्बन्धी उपदेश ही मिलते है, किन्तु परवर्ती काल में इन सदाचार सम्बन्धी उपदेशों के लिये कथात्मक विवेचन भी उपलब्ध होते है। दूसरे शब्दों मे इन ग्रन्थों में कथाओं के माध्यम से नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा दी गयी है। कथा एक ऐसी विधा है, जो प्राणियों के मन पर अधिक प्रभाव डालती है। यही कारण रहा है कि उपदेशात्मक ग्रन्थों में कथा के तत्त्व भी समाहित होते गये। जैन आगम साहित्य में भी प्राचीनकाल से ही उपदेश और कथा– दोनों का एक संमिश्रित रूप ही रहा है। ज्ञाताधर्म कथा में कथाओं के माध्यम से सदाचार सम्बन्धी निर्देश दिये गये हैं।

जैन धर्म में प्राचीन काल से ही उपदेशपरक ग्रन्थों के दोनों रूप मिलते है, एक वह रूप जिसमें मात्र उपदेश होते हैं, दूसरा वह रूप जिसमें मात्र कथायें होती हैं। आगम में भी यदि हम इस दृष्टि से विचार करे तो जहॉ आचारांग, सूत्रकृतांग आदि ग्रन्थ मुख्यतः उपदेशपरक है, जबकि उपासकदशा, अन्तकृतदशा आदि कुछ ग्रन्थ मुख्यतः कथापरक है। ज्ञाताधर्मकथा में हमें एक मिश्रित रूप मिलता है इसमें कथा भाग मुख्य है, जबकि उपदेश भाग अति संक्षिप्त है। उत्तराध्ययन में समग्र रूप से देखे तो उपदेश भाग अधिक है और कथा भाग कम है। आगम युग के पश्चात् निर्युक्ति और भाष्य काल में उपदेश या आचार प्रधान ग्रन्थों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कहीं–कहीं हमें तत्त्सम्बन्धी कथाओं के संक्षिप्त निर्देश मिल जाते हैं। इस प्रकार यह एक नयी विधा हमारे सामने आती है, जिससे उपदेश के साथ–साथ तत्सम्बन्धी कथा का निर्देश होता है। किन्तु निर्युक्ति और भाष्य में ये कथा–निर्देश अत्यन्त संक्षिप्त रूप में ही मिलते है, किन्तु चूर्णियों में कथा भाग विस्तृत रूप में मिलता है।

आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य के अतिरिक्त जैन परम्परा में उपदेशपरक स्वतंत्र ग्रन्थों का लेखन भी हुआ है। **उपदेशकन्दली, उपदेशकर्णिका, उपदेशकल्पद्रुम, उपदेशपंचाशिका, उपदेशप्रकरण, उपदेशकथा, उपदेशमंजरी, उपदेशमणिमाला, उपदेशमाला, उपदेशरत्नकोश, उपदेशरत्नाकर, उपदेशरत्नमाला, उपदेशरसायन, उपदेशशतक, उपदेशसप्ततिका, उपदेशसार, उपदेशामृत, कुलक** आदि अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना हुयी। इन ग्रन्थों में सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ धर्मदास गणिकृत उपदेशमाला को माना जाता है। उपदेशमाला के कर्त्ता के रूप में धर्मदासमणि का नाम उल्लेखित है और उनका काल लगभग विक्रम की 7 वीं शताब्दी माना जाता है। वसुदेवहिण्डी के कर्त्ता भी यही माने जाते है। किन्तु तथ्यों के अभाव में निर्णय रूप में कुछ कहना कठिन है। धर्मदासगणिकृत उपदेशमाला पर अनेक टीकायें लिखी गई है। इन टीका–ग्रन्थों में भी सबसे प्राचीन टीका–ग्रन्थ लगभग 10 वीं शताब्दी में लिखे गये इनमें जयसूरि की **धर्मोदेशमालावृत्ति** और सिद्दर्षिकृत **उपदेशमाला–विवरण** प्रमुख है, जो वर्तमान में भी उपलब्ध होते हैं। धर्मदासगणिकृत **उपदेशमाला** की कालान्तर में भी अनेक टीकायें और विवरण आदि लिखे गये है। धर्मदासगणि कृत **उपदेशमाला** के पश्चात् इस विधा के ग्रन्थों में आचार्य हरिभद्रकृत **उपदेशपद** का क्रम आता है। इस पर सर्व प्रथम टीका वर्धमानसूरि ने लिखी है। दूसरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या मुनि चन्द्रसूरि ने श्री रामचन्द्र की सहायता से वि. 1172 में लिखी।

इन दो प्राचीन ग्रन्थों के पश्चात् इस विधा का तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मल्लधारी हेमचन्द्रसूरि के द्वारा लिखित **उपदेशमाला** अपर नाम पुष्पमाला है।

उपदेशमाला अपर नाम पुष्पमाला का परिचय

ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने इसे **उपदेशमाला** ही कहा है, किन्तु बाद में प्राचीन **उपदेशमाला** से इसकी भिन्नता सिद्ध करने के लिये इसे पुष्पमाला नाम अभिहित किया गया। संयुक्त रूप मे हम इसे **उपदेश–पुष्पमाला** भी कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त जिनदासगणि कृत **उपदेशमाला** नाम का एक अन्य ग्रन्थ भी मिलता है। यह ग्रन्थ भी मूलतः प्राकृत में है और इसकी गाथा संख्या 542 कही गयी है। जिनरत्नकोश में **उपदेशमाला** नाम के ही 542 गाथाओं के एक अन्य ग्रन्थ का भी निर्देश उपलब्ध होता है। इसे भी जिनदासगणि कृत ही बताया गया है। ये दोनों ग्रन्थ एक ही है या भिन्न–भिन्न है, इसकी वास्तविकता क्या है? यह तो दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से ही निश्चित हो सकता है। किन्तु जिनरत्नकोश मे इन दोनों ग्रन्थों की जो प्रारम्भिक गाथाएँ दी गई है वे भिन्न–भिन्न होने से ये दोनों भिन्न–भिन्न ग्रन्थ है ऐसा मानना होगा। जहाँ तक प्रस्तुत मल्लधारी हेमचन्द्रकृत **उपदेशमाला** अपर नाम **पुष्पमाला** का प्रश्न है यह ग्रन्थ 505 प्राकृत गाथाओं मे निबद्ध है। परन्तु वर्तमान में इसकी 501 गाथायें ही उपलब्ध हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ तक इस उपदेश **पुष्पमाला** का प्रश्न है इसमें मूलतः उपदेश भाग ही प्रधान है। किन्तु मूलकर्ता ने जिस–जिस स्थान पर आवश्यक समझा तत्सम्बन्धी कथाओं के नाम का निर्देश अवश्य कर दिया है। इस कथा भाग का विस्तार खरतरगच्छ के साधु सोमगणि की लघुवृत्ति में किया गया है।

उपदेश/पुष्पमाला नामक यह ग्रन्थ महाराष्ट्री प्राकृत मे निबद्ध है। किन्तु इस पर जो खरतरगच्छ के सोमगणि की टीका उपलब्ध होती है, वह संस्कृत में है।

ग्रन्थ की विषयवस्तु

जहाँ तक उपदेश–पुष्पामाला की विषय वस्तु का प्रश्न है इसमें विविध विषयों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इसके प्रथम द्वार में दान के स्वरूप की चर्चा है और इसी प्रसंग में अहिंसा को प्रमुखता देते हुए अभयदान के महत्त्व को स्थापित किया गया है और उसे ही सर्वश्रेष्ठ दान कहा गया है । साथ ही जीव रक्षा के सन्दर्भ में वज्रनाभ का कथानक भी प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय द्वार में ज्ञान के स्वरूप की चर्चा के साथ–साथ ज्ञान के भेद–प्रभेदों की चर्चा की गयी है। साथ ही सूत्रज्ञान प्राप्त करने की विधि भी उल्लिखित की गयी है और इस सम्बन्ध में विद्याधर का कथानक भी दिया गया है। लेखक ने इस ज्ञानदानद्वार में ज्ञान ग्रहण करने की योग्यता और ज्ञान ग्रहण के लाभों की भी चर्चा की है तथा इस सन्दर्भ में क्रमशः नृपपुत्र और सागरचन्द्र की कथा वर्णित है। प्रस्तुत कृति के तीसरे द्वार से सम्बन्धित विषय भी दान है। इसमें सुपात्रदान की चर्चा के सन्दर्भ में दान देने वाले और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान नहीं देने वाले के प्रसंग में क्रमशः धनसार श्रेष्ठि और राजा सूरसेन के पुत्र के दृष्टांत दिये गये हैं। साथ ही दान नहीं देने का फल दारिद्र्य की प्राप्ति बताया गया है।

दानाधिकार के पश्चात् दूसरा शीलाधिकार है। इसमें शील के महत्त्व की चर्चा है, तथा इस सम्बन्ध में गुणसुन्दरी और सीता का कथानक वर्णित है। शील की विराधना के सम्बन्ध में मणिरथ राजा की कथा भी दी गई है।

तीसरे तप अधिकार में तप का माहात्म्य एवं प्रभाव बताया गया है। तप के माहात्म्य के सम्बन्ध में नन्दीसेन मुनि और दृढप्रहारी का चारित्र वर्णित है तथा तप के प्रभाव के सन्दर्भ में विष्णुकुमार मुनि और स्कंदक मुनि के चरित्र वर्णित है।

चौथे भावनाधिकार में भावनाओं की चर्चा है और उनका महत्त्व स्पष्ट किया गया है।

उसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में सम्यक्त्वशुद्धिद्वार और चारित्रशुद्धिद्वार उल्लिखित है। सम्यक्त्वशुद्धिद्वार मे सम्यक्त्व के स्वरूप तथा सम्यक्त्व के महत्त्व एवं लक्षणों को स्पष्ट किया है। सम्यक्त्व के स्वरूप की चर्चा के प्रसंग में उसके पांच लक्षणों का भी चित्रण किया गया है। सम्यक्त्व के चार चरण बताये गये है। चरणशुद्धि में मुनि दीक्षा विधि का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके साथ–साथ सामायिकचारित्र और छेदोपस्थापनीयचारित्र का वर्णन किया गया है। फिर पांच महाव्रतों की चर्चा करते हुये तत्सम्बन्धी कथानकों का भी निर्देश किया गया है। षड्जीव निकाय की यातना के रूप में मुनि अणगार का, सत्य बोलने के सम्बन्ध में कालकाचार्य का, असत्य बोलने के सन्दर्भ में वसुराजा का, अदत–त्याग के सम्बन्ध में नागदत्त का,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में सुदर्शन और स्थूलभद्र के और परिग्रह के सम्बन्ध में कीर्तिचन्द्र के दृष्टान्त दिये गये हैं। तत्पश्चात् रात्रि–भोजन के गुण–दोषों की समीक्षा करते हुये इस सम्बन्ध में रविगुप्त ब्राह्मण का कथानक भी वर्णित है। तत्पश्चात् पांच समिति और तीन गुप्तियों का वर्णन है और उस सम्बन्ध में भी विभिन्न कथानकों का निर्देश किया गया है। पुनः पार्श्वस्थ मुनि के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुये उनसे दूर रहने का निर्देश दिया गया है।

इसके पश्चात् चरणशुद्धि द्वार के अन्तर्गत ही इन्द्रिय जय के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गयी है और इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने के क्या परिणाम होते हैं इस सम्बन्ध में श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में सुभद्रा का कथानक, चक्षु–इन्द्रिय के विषय में लोलाक्ष का कथानक घ्राण इन्द्रिय के विषय में राजासुत का कथानक जिह्वेन्द्रिय के विषय में जितशत्रु की धर्मपत्नी सुकुमालिका का दृष्टान्त वर्णित है। इसके पश्चात् कषायनिग्रहद्वार में कषायों के दुष्परिणाम और उनसे ऊपर उठने के उपाय भी बताये गये है।

कषायों के स्परूप की चर्चा के साथ–साथ उनके दुष्परिणामों की चर्चा की गई है।

क्रोध की दुष्टता में क्षपक साधु का कथानक, मान के सन्दर्भ में ब्रह्मदेव का कथानक, माया के सन्दर्भ में वणिक–पुत्री सुन्दरी का कथानक और लोभ के सम्बन्ध में कपिल और आषाढ़ाभूति के कथानक दिये गये है।

इसके पश्चात् अग्रिम द्वार में गुरूकुलवास के सम्बन्ध में चर्चा की गई है। इसी प्रसंग में गुरू के लक्षणों की चर्चा करते हुये आचार्य के 36 गुणों की चर्चा भी उपलब्ध होती है। गुरुकुलवास के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पालकमुनि का कथानक तथा गुरूकुलवास के त्याग के सम्बन्ध में कूलबालक साधु का कथानक दिया गया है।

इसके पश्चात् छट्ठा द्वार आलोचनाद्वार है। इसमें आलोचना करने वाले एवं कराने वाले के गुणों को स्पष्ट किया गया है। फिर आलोचना के सन्दर्भ में निम्न पांच प्रकार के व्यवहारों की चर्चा की गयी है– 1. आगम 2. श्रुत 3. आज्ञा 4. धारणा और 5. जीत। इसी प्रसंग में आलोचना करने के सन्दर्भ में आर्द्रकुमार तथा इलाकुमार की कथा वर्णित है।

प्रस्तुत कृति का सातवां द्वार भवविरागद्वार है, जिसमें चतुर्गति के दुःखों का विवेचन करने के साथ–साथ चुलनी, कनक–रथ राजा, भरत, सूर्यकान्ता रानी और कुणिक नृप के आख्यान दिये गये हैं पुनः विषयासक्ति के परिहार के सन्दर्भ में जिनपालित और जिनरक्षित के कथानक उल्लिखित है।

प्रस्तुत कृतिका आठवां द्वार विनय द्वार है। इस द्वार के अन्तर्गत पांचों प्रकार के विनयों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और विनय के फल के रूप में मणिरथ राजा का कथानक है।

नवें द्वार वैय्या–वृत्य द्वार में 10 प्रकार की वैयावृत्य की चर्चा के साथ–साथ वैयावृत्य के फल के रूप में राजपुत्र भरत का कथानक दिया गया है। दूसरी ओर साधु के द्वारा गृहस्थ की वैयावृत्य के दोष दिखाते हुये सुभद्रा साध्वी का कथानक वर्णित है। दशवें स्वाध्याय द्वार में उत्कृष्ट और जघन्य स्वाध्याय के परिणामों की चर्चा करते हुये अन्त समय में नमस्कार महामन्त्र के स्मरण का निर्देश दिया गया है। फिर इस सन्दर्भ में शिवकुमार, श्रीमती श्राविका, चन्द्रपिंगल, हुण्डक यक्ष और चोर के दृष्टान्त वर्णित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्यारहवें अनायतन त्याग द्वार के सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया गया है कि साधु को स्वाध्याय हेतु किस स्थान पर निवास करना चाहिये। इसी सन्दर्भ में मुनि अर्हन्नक का कथानक भी दिया गया है किस स्थान पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिये इसकी भी चर्चा है।

इस द्वार में चैत्य द्रव्य के भक्षण के दुष्परिणाम की भी चर्चा की गई है तथा इस सन्दर्भ में कनकदास नामक श्रावक की कथा दी गयी है। इसी प्रसंग में कुसंग त्याग का उपदेश देते हुये पर तैर्थिकों के साथ रहने को भी अनायतन कहा गया है।

बारहवें परपरिवाद–निवृत्तिद्वार में दूसरों की निन्दा के दुष्परिणाम बताते हुये कुन्तलादेवी का उदाहरण दिया गया है। और परपरिवाद के दोषों के सन्दर्भ में सूर्य का उदाहरण दिया गया है।

तेरहवें धर्म–स्थिरताद्वार में श्रावक के लिये जिनपूजा का उपदेश देते हुये अष्टोत्तरीपूजा के स्वरूप का विवरण किया गया है।

चौदहवें परिज्ञाद्वार में समाधि मरण सम्बन्धी चर्चा उपलब्ध होती है। इसी द्वार में जीतकल्पभाष्य में वर्णित 23 उपद्वारों की भी चर्चा हुयी है।

अन्तिम पन्द्रहवें शास्त्रप्रमाण द्वार में किसे किस प्रकार से बोध प्राप्त होता है ? इसकी चर्चा की गयी है और यह बताया गया है कि कोई सामान्यतया छोटे से निमित्त को पाकर भी बोध को प्राप्त हो जाता है तो कोई प्रसंग के उपस्थित होने पर भी बोध से वंचित रह जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेशपुष्पमाला की टीकायें

जैसा हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि धर्मदासगणिकृत उपदेशमाला और हरिभद्रसूरि कृत उपदेश पद के पश्चात् प्राकृत के उपदेशात्मक साहित्य में मलधारी हेमचन्द्र कृत **उपदेशमाला अपरनाम पुष्पमाला** का स्थान है। यहाँ पर विशेष रूप से यह ज्ञातव्य है कि अपनी स्वरचित कृति पर आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने संस्कृत भाषा में **उपदेशमाला विवरण** नामक बृहद् टीका लिखी है। इस स्वोपज्ञ टीका की यह विशेषता यह है कि इसमें आचार्य हेमचन्द ने जिन कथाओं का मूल ग्रन्थ में मात्र नाम निर्देश किया था, उन्हें पूर्व परम्परा से प्राकृत गद्य या पद्य, जिस रूप में भी वे उन्हें उपलब्ध हुई, उसका समावेश कर दिया था इसमें अनेक कथानक सिद्धर्षि की **उपमितिभवप्रपंचकथा** से लिये गये है। आचार्य मलधारी हेमचन्द्र भी **उपदेशमाला** अपरनाम **पुष्पमाला** की यह स्वोपज्ञ टीका वि.सं. 1175 में लिखी गई। इससे यह सिद्ध होता है कि मूल ग्रन्थ इसके पूर्व रचा जा चुका था। हेमचन्द्रसूरि कृत यह स्वोपज्ञ टीका लगभग 14000 श्लोक परिमाण है। इसी स्वोपज्ञ टीका के पश्चात् उन्हीं के शिष्य विजयसिह ने वि.स. 1191 में इस पर वृहद्वृत्ति लिखी। उसी के आधार पर खरतरगच्छ के साधु सोमगणि ने लगभग 5300 श्लोक परिमित लघुवृत्ति वि.सं. 1512 में अहमदाबाद में लिखी, किन्तु इसके पूर्व इस पर अंचलगच्छ के जयशेखर ने विक्रम संवत् 1462 में लगभग 1900 श्लोक परिणाम संक्षिप्त अवचूरी लिखी थी।

पूज्या साध्वी जी ने सोममणि की लघु कृति को ही आधार बनाकर मूल ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। साधु सोमगणि का विस्तृत परिचय श्री अगरचन्द जी नाहटा ने वि.सं. 2017 में श्री मनमोहनयशः स्मारक के ग्रन्थानुग्रन्थ 26 के रूप में प्रकाशित **'पुष्पमाला'** प्रकरण में दिया है। हम अतिविस्तार में न जाते हुये संक्षेप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ही मूल ग्रंथकार मलधारी हेमचन्द्र सूरि और लघुकृति के कर्त्ता साधु सोममणि का परिचय आगे दे रहे हैं।

रचनाकार मल्लधारी हेमचन्द्रसूरि का परिचय

राजशेखर ने प्राकृत द्वादश वृत्ति में (वि.स. 1387 में) लिखा है कि मलधारी हेमचन्द्र का गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था और वे राजमंत्री भी थे। उन्होंने चार स्त्रियों का परित्याग करके मलधारी आचार्य अभयदेव के समीप दीक्षा ली थी। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि मलधारी अभयदेव नवांगी टीकाकार अभयदेव से भिन्न व्यक्ति है और उनसे परवर्तीकालीन है। वे हर्षपुरीयगच्छ के थे। हर्षपूरीयगच्छ की जो परम्परा हमें प्राप्त होती है उसके अनुसार जयसेनसूरि के शिष्य मलधारी अभयदेव और उनके शिष्य प्रस्तुत कृति के रचनाकार मलधारी हेमचन्द्र हुये। मलधारी अभयदेव सूरि के जीवन वृत का विवरण मुनिसुव्रत चरित्र की प्रशस्ति में भी चन्द्रसूरि के द्वारा लिखा गया है। ऐसा माना जाता है कि अभयदेव सूरि का आचार अत्यन्त कठोर था। वे शरीर पर मल धारण करते थे अर्थात् अस्नान के नियम का कठोरता से पालन करते थे। राजा कर्णदेव ने ही उन्हें मलधारी की पदवी प्रदान की थी। वे मात्र एक चोलपट्ट और एक चादर का ही उपयोग करते थे। रसासक्ति से रहित थे। घी के अतिरिक्त उन्होंने सभी विगयों का त्याग कर दिया था। मध्यान्हकाल में एक समय किसी मिथ्यादृष्टि के घर ही भिक्षा के लिये जाते थे। उनके कठोर साधनात्मक जीवन का और साधुचर्या का यह विवरण विस्तार से मुनिसुव्रत चरित्र की प्रशस्ति में उपलब्ध होता है। इसे पं. दलसुखभाईमालवणिया ने गणधरवाद की भूमिका में (पृ. 48 से 54 तक) विस्तार से दिया है। मलधारी हेमचन्द्र के शिष्य आचार्य जयसिंह ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने गुरू की इस कृति **धर्मोपदेशमाला** की वृति (वि.सं. 1191) में भी अपने गुरू मलधारी हेमचन्द्र और उनके गुरू अभयदेव का परिचय दिया है। इससे इतना तो सिद्ध होता है कि मलधारी हेमचन्द्र का स्वर्गवास वि.सं. 1191 के पूर्व हो चुका था और उनके भी गुरू मलधारी अभयदेव का स्वर्गवास वि.सं. 1168 में हुआ था। इस आधार पर मलधारी हेमचन्द्र का स्वर्गवास वि.सं. 1168 के पश्चात् और वि.सं. 1191 के पूर्व हुआ था। दूसरी ओर मलधारी हेमचन्द्र की कृतियों में उनके जो भी रचनाकाल उपलब्ध है, उनमें वि.सं. 1177 के बाद की कोई भी कृति का उल्लेख नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि मलधारी आचार्य हेमचन्द्र का 1177 के पश्चात् और 1191 के बीच कभी हुआ होगा? मलधारी हेमचन्द्र के ग्रन्थों में 1. आवश्यक टिप्पण 2. शतकविवरण 3. अनुयोगद्वारवृत्ति 4. उपदेशमाला अपरनाम पुष्पमाला (मूल) 5. उपदेशमालावृत्ति (ज्ञातव्य है कि उपदेश मालावृत्ति इसी उपदेश–पुष्पमाला पर ही लिखी गयी है और यह स्वोपज्ञ ही है) 6. जीवसमासवृत्ति 7. भवभावनासूत्र 8. भवभावना विवरण 9. नन्दी टिप्पण और 10. विशेषावश्यकभाष्य बृहत्वृत्ति। इन कृतियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे न केवल सम्यक् आचार के परिपालक थे, अपितु विद्वान् भी थे।

हर्षपुरीयगच्छ का परिचय

प्रस्तुत कृति के रचनाकार हेमचन्द्रकुमारपाल प्रतिबोधक हेमचन्द्र से भिन्न व्यक्ति है और काल की दृष्टि से वे ही आचार्य हेमचन्द्र की अपेक्षा वयोवृद्ध, किन्तु समकालिक है। ये भी सिद्धराज के श्रद्धापात्र थे। उनके प्रद्युम्न नाम तथा मन्त्री पदधारक एवं चार स्त्रियों के पति के अलावा मलधारी हेमचन्द्र के गृहस्थ जीवन के सन्दर्भ में हमें विशेष जानकारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलब्ध नहीं है। उनके सम्बन्ध में जो भी परिचय उपलब्ध होता है वह उनके मुनि जीवन से ही सम्बन्धित है। उनके दीक्षित जीवन के सन्दर्भ में जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनके अनुसार वे प्रश्नवाहककुल से निकले हर्षपुरीयगच्छ मे हुये थे। प्रश्नवाहक कुल का उल्लेख हमें मथुरा के अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इस प्रश्नवाहक कुल का उल्लेख हमें कल्पसूत्र की पट्टावली मे भी उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र की स्थिरावली के अनुसार आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबद्ध से कोटिकगण निकला। इस केटिकगण की चार शाखायें और चार कुल हुये। इसकी चार शाखाओं के नाम है– 1. उच्चनागरी 2. विद्याधरी 3. वज्री और 4. मध्यमिका है। इसके अतिरिक्त कोटिकगण ने जो चार कुल निकले थे उनके नाम इस प्रकार है 1. ब्रह्मलिज्ज, 2. वत्थलिज्ज, 3. वाणिज्य और 4. प्रश्नवाहक। इस प्रकार प्रश्नवाहककुल कोटिकगण का ही एक कुल था। यदि हम कल्पसूत्र स्थिरावलि पर विश्वास करे तो यह गण लगभग ई. पूर्व प्रथम शताब्दी के आस पास अस्तित्व में आया होगा। मथुरा से जो प्रश्नवाहककुल से सम्बन्धित उल्लेख प्राप्त होते है उनका समय ईसा की प्रथम–द्वितीय शताब्दी के लगभग माना जा सकता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि चन्द्रकुल के पश्चात् यदि कोई दीर्घजीवी कुल हुआ है तो वह प्रश्नवाहक कुल ही है। क्योंकि हर्षपुरीय गच्छ का आविर्भाव लगभग बारहवीं शताब्दी के पूर्व नहीं हुआ था। अतः उसका पूर्वज प्रश्नवाहक कुल लगभग एक हजार वर्ष तक जीवित रहा इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं हो सकता। संभवतः हर्षपुरीय गच्छ का सम्बन्ध शाकम्भरी मंडल से जोडा गया है। शाकम्भरी मण्डल क्षेत्र उत्तर–पूर्व राजस्थान और उत्तर पश्चिमी हरियाणा रहा है। अतः सम्भावना यही है यह गच्छहर्षपुर अर्थात् वर्तमान हिसार (हरियाणा) से निकला हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लघुवृत्तिकार साधु सोमगणि का परिचय

पुष्पमाला पर लिखी गई टीकाओं में ग्रन्थकार की स्वोपज्ञ वृत्ति महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह टीका आकार में अति विस्तृत होने से इसका प्रसार अधिक न हो पाया। अतः खरतरगच्छ के साधु सोमगणि ने इस पर वि. सं. 1512 में अहमदाबाद के खीमराज की शाला में 5300 श्लोक परिमित लघुवृत्ति की रचना की। साधु सोमगणि के गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध में हमें विशेष जानकारी नहीं मिलती, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि वे जेसलमेर आदि अनेक जैन भण्डारों के संस्थापक अनेक जिन प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापक खरतरगच्छीय आचार्य जिनभद्रसूरि जी के प्रशिष्य और महोपाध्याय सिद्धान्त रुचि जी के शिष्य थे।

उनके गुरु सिद्धान्तरुचिजी का जन्म वि.सं. 1460 के लगभग माना जाता है। ये सभी उच्चकोटि के विद्वान् थे। इन्हें वि.सं. 1501 के पूर्व महोपाध्याय पद प्राप्त हो चुका था।

साधु सोमगणि इन्हीं सिद्धान्तरुचिजी के शिष्य थे। साधु सोमगणि के अतिरिक्त उनके अन्य शिष्यों में अभयसोम, विजयसोम, मुनिसोम आदि का भी उल्लेख मिलता है और उनकी अनेक रचनाएँ भी उपलब्ध होती है। स्वयं साधु सोमगणिजी की अनेक रचनाएँ मिलती हैं। संग्रहणी अवचूरी इनकी प्रथम रचना है। इसके अतिरिक्त चरित्रपंचकवृत्ति, नन्दीश्वरस्तववृत्ति, चन्द्रप्रभस्तववृत्ति, आदि भी इनकी ही रचनाएँ हैं। इन्होंने नागद्रह पार्श्वस्तोत्र आदि कुछ स्तोत्र भी लिखे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि साधु सोमगणि एक उच्चकोटि के विद्वान् थे और उन्होंने पुष्पमाला की इस लघुवृत्ति के अतिरिक्त भी विस्तृत रूप से टीका साहित्य का सृजन किया था। पुष्पमाला पर लिखी गई इनकी यह लघुवृत्ति उनकी विद्वत्ता की परिचायक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्वी श्री सम्यग्दर्शना श्री जी ने इसका अनुवाद करके इसे सर्वसुलभ बना दिया है। आशा है कि श्रावकगण इसके स्वाध्याय से प्रेरणा लेकर अपनी ज्ञान रुचि को विकसित करेंगे। अन्त में, मैं साध्वी श्री सम्यग्दर्शना श्री जी के इस कार्य की अनुमोदना करते हुए यह चाहूँगा कि वे जिनवाणी की सेवा में सदैव तत्पर बनी रहें।

21 अक्टूबर, 2007
विजयादशमी
संवत् 2064

प्रो. सागरमल जैन
प्राच्यविद्यापीठ
शाजापुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरोवाक्

नमामि सूरि कुशलम्

दादा श्री जिनकुशलसूरि गुरुदेव एवं पू. संघरत्ना श्री की कृपा का ही परिणाम है कि जिसके द्वारा यह दुरूह कार्य भी मुझसे सहज बन सका और संयोग की बात कि साध्वी श्री कनकप्रभाश्रीजी और श्री सम्यक् प्रभाश्रीजी का शोधकार्य डॉ. सागरमलजी सा. के निर्देशन में कराने हेतु शाजापुर आने का कार्यक्रम बना। तब पू. गुरुवर्य्याश्री का आदेश हुआ कि इन्हें अध्ययन करवाने हेतु तुम्हें साथ जाना है गुरुवर्य्याश्री के सान्निध्य को छोड़ने की इच्छा न होते हुए भी आज्ञा शिरोधार्य कर शाजापुर के लिए प्रस्थान हुआ, यहाँ पहुँचने के पश्चात् पू. गुरुवर्य्याश्री का आदेश आया कि तुम्हें भी किसी भी एक ग्रन्थ का अनुवाद करना है, क्योंकि अभी सामाजिक हल–चल से निवृत्त हो, अतः वहाँ रहने का सदुपयोग करना है पू. गुरुवर्य्याश्री की आज्ञानुसार डॉ. साहब से मैंने पूछा कि किस ग्रन्थ का अनुवाद करना चाहिए, जो मुझे अनुवाद करने में सरल हो और लोगों को पढ़ने में भी रुचिकर, सरल हो। सरलमना डॉ. साहब ने सरलता से कहा मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित पुष्पमाला पर खरतरगच्छ भूषण साधु सोमगणि द्वारा रचित टीका है, उसी को आधार बनाकर मूलग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद करो।

दादा गुरुदेव का नाम लेकर कार्य प्रारम्भ किया और वह कार्य गुरुदेव व गुरुवर्याश्री की कृपा से पूर्ण भी हो गया। बीच–बीच में जहाँ भी कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं, जहाँ भी अर्थ करने में कठिनाई आई, वहाँ डॉ. साहब से कहती यह समझ में नहीं आ रहा है डॉ. साहब तुरन्त सरलता से अर्थ का समाधान कर देते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुष्पमाला के मूल पद्य प्राकृत भाषा में है, जिसकी संस्कृत में छाया प्रो. श्री माखनलालजी सोनी ने की, जिससे अनुवाद करने में और सरलता हो गई।

गुरुदेव की कृपा से लिया ग्रन्थ हाथ में
गुरुवर्या श्री का नाम लेकर लिया कागज, कलम हाथ में
संघरत्ना की कृपा से कार्य पूर्ण हुआ सरलता से
बीच–बीच में आई कठिनाई मिटी प्रज्ञापुरुष की सरलता से
कार्य पूर्ण हुआ कनक सम्यक्प्रभा के सहयोग से
प्रकाशन हुआ खरतरगच्छ महासंघ के सहयोग से

इन सबका उपकार, आभार मानती हुए उन्हीं के आशीर्वाद और शुभकामना के अपेक्षा के साथ की निरन्तर सत्पथ में आगे बढ़ती रहूँ, यही एक अभिलाषा है।

विजयादशमी
शाजापुर

गुरु सज्जनचरण रेणु
सम्यक्दर्शनाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुष्पमाला

सिद्धमकम्ममविग्गह–मकलंकमसंगमक्खयं धीरं।
पणमामि सुगइपच्चल–परमत्थपयासणं वीरं।। 1।।
सिद्धम्, अकर्माणं, अविग्रहं, अकलङ्कं, असङ्गम् अक्षरं धीरं।
प्रणमामि सुगति प्रत्यलं–परमार्थं प्रकाशकं वीरं।। 1।।

अष्टकर्म रूपी कलंक से रहित, वीतराग दशा को प्राप्त, अशरीरी एवं अक्षय पद–रूपी सिद्धस्थान को प्राप्त, परमार्थ मार्ग (मोक्षमार्ग) के प्रकाशक, धैर्य आदि गुणों के धारक, सिद्धगति को प्राप्त भगवान् महावीर को मैं नमस्कार करता हूँ।

जिणवयणकाणणाओ, चिणिऊण सुवण्णसरिसंगुणड्ढं।
उवएसमालमेयं, रएमि वरकुसुममालं व।। 2।।
जिनवचन काननात् चित्वा स्वर्ण (सुवर्ण) सदृशंगुणाढ्यं।
उपदेशमालामियं रचयामि वरकुसुम मालामिव।। 2।।

जिनवाणी रूपी उपवन से स्वर्ण के समान अनेक गुणों से युक्त वचन रूपी पुष्पों को चुनकर उनकी श्रेष्ठ माला के रूप में मैं इस उपदेश माला की रचना करता हूँ।

रयणायरपब्भट्ठं रयणं व सुदुल्लहं मणुयजम्म।
तत्थवि रोरस्स निहिव्व, दुल्लहो होइ जिणधम्मो।। 3।।
रत्नाकरेप्रभ्रष्टं, रत्नमिव सुदुर्लभं मनुज जन्मः।
तथापि रोरसा निधि एव दुर्लभः जिनधर्मः।। 3।।

रत्नाकर (समुद्र) में गिरे हुये रत्न की पुनः प्राप्ति के समान मनुष्य जन्म भी अति दुर्लभ है। जैसे – दरिद्र व्यक्ति को नवनिधि की प्राप्ति दुर्लभ है वैसे ही मनुष्य जन्म पाकर भी जिन धर्म को प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तं चेव दिव्वपरिणइ–वसेण कह कहवि पाविउं पवरं।
जइयव्वं एत्थ सया, सिवसुहसंपत्तिमूलम्मि।। 4।।
तं (चैव) च एव दिव्य परिणति। वशान् कथं कथंमपि प्राप्य प्रवरम्।
यतितव्यं अत्र सदा, शिव सुख संपत्ति मूलत्वात्।। 4।।

यह मनुष्य जन्म और जिनधर्म अनुकूल कर्मों के विपाक से बड़े ही कष्ट से प्राप्त होता है। यह मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति का हेतु है। अतः ऐसे श्रेष्ठ जिनधर्म का सर्वदा पालन करना चाहिये।

सो य अहिंसामूलो, धम्मो जियरागदोसमोहेहिं।
भणिओ जिणेहिं तम्हा, सविसेसं तीएँ जइयव्वं।। 5।।
दानाधिकारः प्रथम स्तमाभयदान द्वारम्। अहिंसा धर्मोपदेशः
सः च अहिंसा मूलः, धर्मः जितरागदोषमोहैः।
भणितः जिनैः तस्मात् सविशेषं तस्यां यतितव्यं।। 5।।

राग–द्वेष मोह को जीतने वाले जिनेश्वर द्वारा प्रतिपादित जिन धर्म का मूल अहिंसा है अतः इस अहिंसा का पालन विशेष रूप से करना चाहिये।

किं सुरगिरिणो गरुयं, जलनिहिणो किं व होज्ज गंभीरं।
किं गयणाओ विसालं, को वा अहिंसासमो धम्मो।। 6।।
किं सुरगिरेः गुरुकं, जलानिधेः किंवा स्यात् गंभीरम् (गंभीरः)।
किं गगनात् विशालं, को वा अहिंसा समः धर्मः।। 6।।

जैसे – मेरु पर्वत से ऊंचा कोई पर्वत नहीं है, सागर के समान कोई गंभीर (गहरा) नहीं हैं, आकाश की तरह कोई विशाल नहीं है इसी प्रकार अहिंसा के समान अन्य कोई धर्म नहीं है अर्थात् अहिंसा ही सर्वोच्च धर्म है।

कल्लाणकोडिजणणी, दुरंतदुरियारिवग्गनिट्ठवणी।
संसारजलहितरणी, एक्कच्चिय होइ जीवदया।। 7।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्याणकोटिजननी, दुरन्तदुरितारि–वर्ग निष्ठापिनी।
संसारजलधितरणी, एकैव भवति जीवदया।। 7।।

क्योंकि अहिंसा करोड़ों कल्याणकारी कार्यों की जननी है। वह जीव के द्वारा चिरकाल से संचित पाप समूह को नष्ट करने वाली है तथा संसार समुद्र से पार जाने के लिये नौका के समान है। इस प्रकार जीव–दया ही एक मात्र श्रेष्ठ धर्म है।

विउलं रज्जं रोगेहिं, वज्जियं रूवमाउयं दीहं।
अन्नंपि तं न सोक्खं, जं जीवदयाइ न हु सज्झं।। 8।।
विपुलं राज्यं रोगैः वर्जितं आयुष्यं दीर्घम्।
अन्यदपि तद् न सौख्यं, यद् जीवदयायाः न खलु साध्यं।। 8।।

इस जीवन में विपुल राज्य सम्पदा, स्वस्थ शरीर, शारीरिक सौन्दर्य, दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति भी अहिंसा से ही साध्य है। इसी प्रकार परलोक में इन्द्र पद एवं मोक्ष सुख भी अहिंसा से ही संभव है।

देविंदचक्कवट्टित्तणाइ भुत्तूण सिवसुहमणंतं।
पत्ता अणंतसत्ता, अभयं दाऊण जीवाणं।। 9।।
देवेन्द्र चक्रवर्तित्वानि भुक्त्वा शिवसुखमनन्तं।
प्राप्ता अनन्तसत्वाः, अभयं दत्वा जीवानां।। 9।।

समस्त जीवों को अभयदान देकर तथा इन्द्र एवं चक्रवर्ती पद भोगकर अनन्त जीवों ने मोक्ष सुख को प्राप्त किया है।

तो अत्तणो हिएसी, अभयं जीवाण देज्ज निच्चंपि।
जह वज्जाउहजम्मे, दिण्णं सिरिसंतिनाहेण।। 10।।
ततः आत्मनः हितैषी, अभयं जीवानां दद्याः नित्यमपि।
यथा वज्रायुधजन्मनि दत्तं श्रीशान्तिनाथेन।। 10।।

आत्म कल्याण के इच्छुक व्यक्ति को सदैव ही जीवों को अभयदान देना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिये। जैसे शान्तिनाथ भगवान ने वज्रायुध भव में अनेक जीवों को अभयदान दिया था।

जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सयलजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य, धम्मम्मि ठिओ स विण्णेओ।। 11।।
यथा मम न प्रियं दुःखं ज्ञात्वा एवमेव सकल जीवानां।
न हन्ति न घातयति च धर्मे स्थितः सः विज्ञेयः।। 11।।

जैसे "मुझे दुःख प्रिय नहीं" है ऐसे ही सभी जीवों के सम्बन्ध में समझकर जो न मारता है, न मरवाता है वही व्यक्ति धर्म मे स्थित है या धर्म के सम्यक् स्वरूप का विज्ञाता है।

जे उण छज्जीववहं, कुणंति असंजया निरणुकंपा।
ते दुहलक्खाभिहया, भमंति संसारकंतारे।। 12।।
विपर्ययवतां दोषान् दिदर्शयिषुः आह
ये पुनः षट्जीववधं कुर्वन्ति असंयताः निरनुकम्पाः।
ते दुःखलक्षाभिहताः, भ्रमन्ति संसार कान्तारे।। 12।।

जो षट्जीव निकाय का घात करते हैं वे असंयत है, अनुकंपा रहित है। वे अनेक प्रकार के दुःखों से पीडित होकर इस संसार रुपी अटवी में भ्रमण करते रहेगें।

वहबंधमारणरया, जियाण दुक्खं बहुं उईरंता।
होंति मियावइतणउव्व, भायणं सयलदुक्खाणं।। 13।।
वधबन्धमारणरताः जीवानां दुःखं बहु उदीरयन्तः।
भवन्ति मृगावतीतनय इव, भाजनं सकल–दुःखानाम्।। 13।।

प्राणियों के वध, बन्धन, प्राणहरण आदि कार्यों में जो निरत रहते हैं, वे मृगावती के मृगापुत्र के समान शरीर को प्राप्त कर अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाऊण दुहमणंतं, जिणोवएसाउ जीववहयाणं।
होज्ज अहिंसानिरओ, जइ निव्वेओ भवदुहेसु।। 14।।
ज्ञात्वा दुःखमनन्तं, जिनोपदेशात् जीववधकानाम्।
भवेः अहिंसा निरतः, यदि निर्वेदः भवदुःखेषु।। 14।।

जीवों के वध के परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाले अनन्त दुःखों को जानकर तू अहिंसा में निरत हो जा। यदि संसार के दुःखों से मुक्ति (निर्वेद) पाना चाहता हो तो जिनेश्वर परमात्मा का यही उपदेश है। हिंसा का त्याग कर दो क्योंकि मोक्ष पाने की यही एक मात्र विधि है।

इच्छंतो य अहिंसं, नाणं सिक्खिज्ज सुगुरुमूलम्मि।
सच्चिय कीरइ सम्मं, जं तव्विसयाइविन्नाणं।। 15।।
इति पुष्पमाला विवरणे (आद्ये) प्रथममभयदान द्वारं समाप्तं।
इच्छेत् च अहिंसां, ज्ञानं शिक्षेत् सुगुरुमूले।
सा चैव क्रियते सम्यक् यत् तत् विषयादि विज्ञानम्।। 15।।

यदि अहिंसा ज्ञान द्वार की इच्छा करते हो तो सर्व प्रथम सद्गुरु के सान्निध्य में श्रुत ज्ञान की शिक्षा ग्रहण करों, क्योंकि ज्ञान से ही अहिंसा का विशेष विज्ञाता होकर सम्यक् प्रकार से अहिंसा का पालन कर सकोगें।

किं नोणं? को दाया?, को गहणविही ? गुणा य के तस्स?।
दारक्कमेण इमिणा, नाणस्स परूवणं वुच्छं।। 16।।
किं ज्ञानं? को दाता ? कः ग्रहण विधिः? गुणाः च के तस्य।
द्वारक्रमेण अनेन, ज्ञानस्य प्ररूपणम् वक्ष्ये।। 16।।

ज्ञान का स्वरूप क्या है ? ज्ञान का दाता कौन है ? ज्ञान की ग्रहण विधि क्या है ? इस प्रकार क्रम से ज्ञान के स्वरूप की प्रज्ञापना करूंगा।

आभिणिबोहियनाणं, सुअनाणं चेव ओहिनाणं च।
तह मणपज्जवनाणं, केवलनाणं च पंचमयं।। 17।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिनिवोधिकज्ञानं, श्रुतज्ञानं चैव अवधिज्ञानं च।
तथा मनःपर्यायज्ञानं, केवलज्ञानं च पंचमम्।। 17।।

प्रथम द्वार मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान तथा मनः पर्याय–ज्ञान और केवलज्ञान ये ज्ञान के पांच प्रकार है।

एत्थं पुण अहिगारो, सुअनाणेणं जओं सुएणं तु।
सेसाणमप्पणोऽवि य, अणुओगपईवदिट्ठंतो।। 18।।
अत्र पुनः अधिकारः श्रुतज्ञानेन यतः श्रुतेन तु।
शेषानां आत्मनोऽपि च अनुयोगप्रदीप वत् दृष्टान्तः।। 18।।

अब ज्ञान का विवेचन करते हैं। श्रुत या श्रुतज्ञान के द्वारा ही मतिज्ञानादि के स्वरूप की प्रज्ञापना की जाती है। ज्ञान दीपक के समान होता है। जिस प्रकार दीपक स्वयं भी प्रकाशित होता है एवं अन्य को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं को प्रकाशित करता है और अपने विषय को भी प्रकाशित करता है।

एक्कम्मि वि मोक्ख–पयम्मि होइ जो एत्थ निच्चमाउत्तो।
तं तस्स होइ नाणं, छिंदइ सो तेण दुहजालं।। 19।।
एकस्मिन् अपि मोक्ष पदे भवति यः अत्र नित्यमायुक्तः।
तत् तस्य भवति ज्ञानं, छिनत्ति सः तेन दुःखजालं।। 19।।

जो संसार में दुःख प्रदान करने वाले कर्म–रूपी जाल का छेदन करता है और मोक्ष पद को प्राप्त कराता है, वही ज्ञान है।

संविग्गो गीयत्थो, मज्झत्थो देसकालभावन्नू।
नाणस्स होइ दाया, जो सुद्धपरूवओ साहू।। 20।।
संविग्नः गीतार्थः, मध्यस्थः देशकाल–भावज्ञः।
ज्ञानस्य भवति दाता, यः शुद्धप्ररूपकः साधुः।। 20।।

संविग्न, गीतार्थ, मध्यस्थ (राग–द्वेष से रहित) देशकाल भाव का ज्ञाता, शुद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म का प्ररूपक साधु ही सम्यक् ज्ञान के दाता होते हैं।

ओसन्नोऽवि विहारे, कम्मं सोहेइ सुलहबोही य।
चरणकरणं विसुद्धं, उववूहंता परूवंतो।। 21।।
अवसन्नेऽपि विहारे, कर्म शोधयति सुलभबोधि च।
चरण–करणं विशुद्धं, उपवृहंयन् प्ररूपयन्च।। 21।।

जो महाव्रतों एवं पिण्ड विशुद्धि आदि गुणों से युक्त, अर्हत्–प्रवचन की प्रशंसा एवं विशुद्ध आचार में सम्यक् प्ररूपणा करता है वह साधु संयम मार्ग में शिथिल होने पर भी अशुभ कर्मों की निर्जरा करके भवान्तर में सुलभ बोधि होता है।

अक्खलियमिलियाइगुणे, कालग्गहणाइओ विही सुत्ते।
मज्जणनिसेज्जअक्खा, इच्चाइकमो तयत्थम्मि।। 22।।
अस्खलितमिलितादिगुणे, कालग्रहणादिको विधिः सूत्रे।
मार्जननिशेषाक्षा, इत्यादि कर्म तत्रास्मिन्।। 22।।

सूत्र एवं अर्थ के अध्येता मुनि को सूत्र में बताई गई विधि पूर्वक कालग्रहण, भूमि प्रमार्जन, गुरू के आसन की रचना, स्थापनाचार्य की स्थापना इत्यादि कर्तव्यों का पालन करते हुये हीनाक्षर आदि स्खलना रूपी दोषों एवं अधिकार या पाठ को मिलाकर पढने रूपी दोषों का परित्याग कर सूत्रों का अध्ययन करना चाहिये।

निद्दा–विगहा–परिव–ज्जिएहिं गुत्तेहिं पंजलिउडेहिं।
भत्तिबहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेयव्वं।। 23।।
निद्राविकथापरिवर्जितैः गुप्तैः प्रांजलिपुटैः।
भक्तिबहुमान पूर्वं, उपयुक्तैः श्रोतव्यं।। 23।।

निद्रा, विकथा का परित्याग कर तथा मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों का निग्रह कर, कर–कमल संयोजित करके सभक्ति बहुमान पूर्वक सजग एवं एकाग्र होकर श्रुत ज्ञान को श्रवण करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिकंखंतेहिं सुहा–सियाइं वयणाइं अत्थसाराइं।
विम्हियमुहेहि हरिसा–गएहिं हरिसं जणंतेहिं।। 24।।
अभिकांक्षद्भिः, सुभाषितानि वचनानि अर्थसाराणि।
विस्मितमुखैः, आगत हर्षैः हर्षं जनयद्भिः।। 24।।

गुरु के सार युक्त मधुर वचनों को सुनने की इच्छा रखते हुये, विस्मित मुख–मुद्रा से, उल्लासपूर्वक, प्रसन्नचित्त, हर्ष से परिपूर्ण हो श्रुतज्ञान श्रवण करना चाहिये।

गुरुपरिओसगएणं, गुरुभत्तीए तहेव विणएणं।
इच्छियसुत्तत्थाणं, खिप्पं पारं समुवयंति।। 25।।
गुरुपरितोषगतेन, गुरुभक्त्या तथैव विनयेन।
इप्सितसूत्रार्थयोः, क्षिप्रं पारं समुपयान्ति।। 25।।

गुरू भक्ति, विनय, सेवा आदि से गुरू को संतुष्ट करने वाला शिष्य इच्छित सूत्र का ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।

समयभणिएण विहिणा, सुत्तं अत्थो य दिज्ज जोग्गस्स।
विज्जासाहगनाएण, होंति इहरा बहू दोसा।। 26।।
समयभणितेन विधिना, सूत्रं अर्थं च दद्याः योग्यस्य।
विद्यासाधकज्ञातेन, भवन्ति इतरा बहुदोषाः।। 26।।

शास्त्र में अनुमोदित विधि द्वारा सूत्र और अर्थ का ज्ञान योग्य शिष्य को ही देना चाहिये, अन्यथा अयोग्य को देने पर ज्ञान देने वाला विद्या साधक व ज्ञान ग्रहण करने वाला अयोग्य शिष्य दोनों ही बहुत दोषों के भाजन बनते हैं।

आमे घडे निहित्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ।
इय सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ।। 27।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आमे घटे निक्षिप्तं, यथा जलं तत् घटं विनाशयति।
एवं सिद्धान्तरहस्यं, अल्पाधारं विनाशयति।। 27।।

जैसे कच्चे घडे में पानी भरने पर पानी व घडा व्यर्थ (नष्ट) हो जाता है, उसी प्रकार अयोग्य शिष्य को दिया गया ज्ञान, ज्ञान लेने वाले के विनाश का कारण बनता है, एवं ज्ञान दाता को हँसी का पात्र बनाता है।

मेहा हुज्ज न होज्ज व, लोए जीवाण कम्मवसगाणं।
उज्जोओ पुण तह वि हु, नाणम्मि सया न मोत्तव्वो।। 28।।
मेधा भवेत् न भवेत् वा, लोके जीवानां कर्मवशगानाम्।
उद्योगः पुनः तथाऽपि खलु, ज्ञाने सदा न मोक्तव्यः।। 28।।

अष्ट कर्मो के वशीभूत संसार के प्राणियों में ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के द्वारा किसी–किसी की बुद्धि विकसित हो जाती है एवं किसी–किसी की बुद्धि विकसित नहीं भी होती है। फिर भी ज्ञान की प्राप्ति हेतु निरन्तर श्रुताभ्यास करते रहना चाहिये।

जइ वि हु दिवसेण पयं, धरिज्ज वा सिलोगऽद्धं।
उज्जोअं मा मुंचसु, जइ इच्छसि सिक्खिउं नाणं।। 29।।
यद्यपि खलु दिवसेन पदं, धरति पक्षेण वा श्लोकार्धम्।
उद्योगं मा मुंच, यदि इच्छसि शिक्षितुं ज्ञानम्।। 29।।

चाहे दिन भर में श्लोक का एक पद ही या पन्द्रह दिन (पाक्षिक) में अर्द्ध श्लोक ही याद होता हो फिर भी ज्ञान प्राप्ति हेतु परिश्रम करना कभी नहीं छोडना चाहिये।

जं पिच्छह अच्छेरं, तह सीयलमउयएण वि कमेण।
उदएण वि गिरी भिन्नो, थोवं थोवं वहंतेण।। 30।।
यत् प्रेक्षध्वं आश्चर्यं, तथा शीतलमृदुनाऽपि क्रमेण।
उदकेन अपि गिरिः भिन्नः, स्तोकं स्तोकं वहता।। 30।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत्–प्रसिद्ध इस आश्चय्र को देखो–शीतल, मृदु और धीरे–धीरे बहती हुयी जल धारा सुदृढ़ पर्वत को भी भेद देती है, इसी प्रकार निरन्तर अभ्यास से श्रुत रहस्य रूपी पर्वत को भी भेदा जा सकता है।

सूई जहा ससुत्ता, न नस्सइ कयवरम्मि पडिया वि।
तह जीवो वि ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे।। 31।।
सूचिः यथा ससूत्रा, न नश्यति कचवरे पतिता अपि।
तथा जीवः अपि ससूत्रः, न नश्यति गतोऽपि संसारे।। 31।।

जिस प्रकार धागे से पिरोई हुई सूई कचरे में गिर जाने पर भी पुनः प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान से युक्त जीव संसार चक्र मे परिभ्रमण करने पर भी श्रुतज्ञान के कारण पुनः आत्म धर्म मे स्थित हो जाता है।

सूई वि जह असुत्ता, नासइ रेणुम्मि निवडिया लोए।
तह जीवो वि असुत्तो, नसइ पडिओ भवरयम्मि।। 32।।
सूचिरपि यथा असूत्रा, नश्यति निपतिता लोके।
तथा जीवोऽपि असूत्रः, नश्यति पतितः भवरजसि।। 32।।

जिस प्रकार बिना धागे की सूई रेती (धूल) में गिर जाने पर पुनः नहीं मिल सकती है उसी प्रकार श्रुतज्ञान के अभाव में संसार चक्र में पतित जीव बोधि को प्राप्त नहीं कर पाता है।

जह आगमपरिहीणो, विज्जो वाहिस्स न मुणइ तिगिच्छं।
तह आगमपरिहीणो, चरित्तसोहिं न याणेइ।। 33।।
यथा आगम परिहीनो, वैद्यः व्याधेः न जानाति चिकित्साम्।
तथा अगमपरिहीनो, चरित्रशुद्धिम् न जानाति।। 33।।

जैसे– ऋषि प्रणीत शास्त्र ज्ञान के अभाव में वैद्य व्याधि को नहीं जान सकता है, उसी प्रकार आप्त पुरुष द्वारा कथित आगम ज्ञान के अभाव में चारित्र की शुद्धि कैसे करेगा ? अर्थात् नहीं कर पायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किं एत्तो लट्ठयरं, अच्छेरतरं व सुंदरतरं वा।
चंदमिव सव्वलोया, बहुस्सुअमुहं पलोयंति।। 34।।
किं एतस्मात् लष्टतरं आश्चर्यतरं वा सुन्दरतरं वा।
चन्द्रमिव सर्वलोकाः बहुश्रुतमुखं प्रलोकयति।। 34।।

ज्ञान ही चित्त को विस्मित करने वाला अर्थात् आनन्द देने वाला एवं सुन्दरतम है। जैसे– सभी व्यक्ति निर्मल चन्द्र के दर्शन करते हैं।

छट्ठऽट्ठमदसमदुवालसेहिं अबहुस्सुअस्स जा सोही।
एत्तो उ अणेगगुणा, सोही जिमियस्स नाणिस्स।। 35।।
षष्टाष्टदशद्वादशैः अबहुश्रुतस्य या शुद्धिः।
एतस्याः तु अनेकगुणाः, शुद्धिः जिमितस्य ज्ञानिनः।। 35।।

दो, तीन, चार अथवा पांच उपवास से अगीतार्थ की शुद्धि होती है किन्तु उससे अनेक गुणा अधिक शुद्धि उद्गम आदि दोषों से रहित विशुद्ध आहार ग्रहण करने वाले गीतार्थों की होती है।

नाणेण सव्वभावा, नज्जंति सुहुमबायरा लोए।
तम्हा नाणं कुसलेण, सिक्खियव्वं पयत्तेणं।। 36।।
ज्ञानेन सर्वभावाः ज्ञायन्ते सूक्ष्म बादरा लोके।
तस्मात् ज्ञानं कुशलेन शिक्षितव्यं प्रयत्नेन।। 36।।

इस लोक में सभी आन्तरिक एवं बाह्य भावों को ज्ञान से जाना जा सकता है। अतः सम्यक् प्रयत्न पूर्वक ज्ञान सीखना चाहिये।

नाणमकारणबंधू, नाणं मोहंधयारदिणबंधू।
नाणं संसारसमुद्दतारणे बंधुरं जाणं।। 37।।
ज्ञानमकारणबन्धू, ज्ञानं मोहान्धकारं दीनबन्धुः।
ज्ञानं समुद्रतारणे वन्धुरं (सुन्दरं, प्रधानं) यानं।। 37।।

ज्ञान निस्वार्थ मित्र है, मोह रूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समान है और संसार सागर को पार करने के लिये श्रेष्ठ नौका के समान है।

वसणसयसल्लियाणं, नाणं आसासयं सुमित्तुव्व।
सागरचंदस्स व होइ, कारणं सिवसुहाणं च।। 38।।
व्यसनशतशल्लिताणां, ज्ञानं आश्वासकं सुमित्रमिव।
सांसारचन्द्रस्य इव भवति, कारणं शिवसुखाणां च।। 38।।

सैकडों दुर्व्यसनों से जन्य आन्तरिक पीडाओं को दूर करने में कल्याणकारी मित्र के समान ज्ञान ही हमें आश्वस्त करता है, एवं ज्ञान ही मोक्ष सुख का कारण है। जैसे– सागरचन्द्र को ज्ञान से ही विभिन्न बाधाएँ दूर होकर सुख की उपलब्धि हुयी थी।

पावाओविणियत्ती, पवत्तणा तह य कुसलपक्खम्मि।
विणयस्स य पडिवत्ती, तिन्नि वि नाणे सम्प्पंति।। 39।।
पापात् विनिवृत्ति, प्रवर्तना तथा च कुशलपक्षे।
विनयस्य च प्रतिपत्तिः, त्रीणि अपि ज्ञाने समाप्यन्ते।। 39।।

पाप से निवृत्ति, धर्म मार्ग मे प्रवृत्ति एवं विनय–गुण की प्राप्ति ये तीनों ज्ञान से ही प्राप्त होते हैं।

गंगाए वालुअं जो, मिणिज्ज उल्लिंचि (उं जो) ऊण (?) समत्थो।
हत्थउडेहिं समुद्दं, सो नाणगुणे भणिज्जा हि।। 40।।
गङ्गायाः वालुकां यः मिनुयात् उल्लचिंतुं यः असमर्थः।
हस्त–पुटैः समुद्रं, सः ज्ञान गुणे भणेत् हि (नापरः)।। 40।।

नदी के रज कणों को गिनने में एवं समुद्र के पान को हाथ से उलीचने में जैसे कोई भी व्यक्ति समर्थ नहीं है, वैसे ही ज्ञान के अनन्त गुणों को कहने में ज्ञानी भी असमर्थ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति पुष्पमाला विवरणे द्वितीयं ज्ञान द्वारम्

आहारवसहिवत्था–इएहिं नाणीणुवग्गहं कुज्जा।
जं भवगयाण नाणं, देहेण विणा न संभवइ।। 41।।
आहार वसतिवस्त्रादिभिः ज्ञानिनां उपग्रहं कुर्यात्।
यत् भवगतानां ज्ञानं, देहेन बिना न संभवति।। 41।।

आहार, वसति, वस्त्र आदि द्वारा ज्ञानी का उपकार करें, क्योंकि संसार में आये हुये व्यक्ति को देह के बिना ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

देहो य पुग्गलमओ, आहाराइहिं विरहिओ न भवे।
तयभावे न य नाणं, नाणेण विणा कओ तित्थं ?।। 42।।
देहः च पुद्गलमयः, आहारादिभिः विरहित न भवति।
तदभावे न च ज्ञानं, ज्ञानेन बिना कुतः तीर्थम्।। 42।।

शरीर पुद्गलमय है, अतः आहारादि के अभाव में शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता है एवं स्वस्थ शरीर के अभाव में ज्ञान भी सुरक्षित नहीं रहता है, और ज्ञान के अभाव में धर्म–तीर्थ (चतुर्विधसंघ) भी सुरक्षित नहीं रहता है।

एएहिं विरहियाणं, तवनियमगुणा भवे जइ समग्गा।
आहारमाइयाणं, को नाम परिग्गहं कुज्जा ?।। 43।।
एतैः विरहितानां, तपनियमगुणा भवेयुः यदि समग्राः।
आहारमात्रादिकानाम्, को नाम परिग्रहं कुर्यात्।। 43।।

यदि आहार आदि के अभाव में भी साधु जीवन तप, नियम आदि गुणों से परिपूर्ण पालन हो जाये तो फिर कौन आहार आदि के परिग्रहण की अपेक्षा रखेगा ?

तम्हा विहिणा सम्मं, नाणीणमुवग्गहं कुणंतेणं।
भवजलहिजाणवत्तं, पवत्तियं होइ तित्थंपि।। 44।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मात् विधिनां सम्यक्, ज्ञानिनां उपग्रहं कुर्वता।
भवजलधियाणपात्रं प्रवर्तितं भवति तीर्थमपि।। 44।।

सम्यक् विधि द्वारा आहार आदि से उपग्रह करते हुये संसार–सागर से पार होने के लिये बने हुये जहाज के समान चतुर्विध–धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होती है।

कह दायगेण एयं, दायेव्वं ? केसु वा वि पत्तेसु ?।
दाणस्स, अदायगाणं च गुणदोसा।। 45।।
कथं दायकेन एतं दातव्यं ? केषु वापि पात्रेषु ?।
दानस्य दायकानां, अदायकानां च गुणदोषाः।। 45।।

दाता के द्वारा दिये जाने वाले दान नहीं देने से क्या–क्या दोष होते हैं, उन्हें मैं बताता हूँ।

आसंसाए विरहिओ, सद्धारोमंचकंचुइज्जंतो।
कम्मक्खयहेउं चिय, दिज्जादाणं सुपत्तेसु।। 46।।
आशंसया विरहितः, श्रद्धारोमांचकंचुकितः।
कर्मक्षयहेतुं चैव दद्यात् दानं सुपात्रेषु।। 46।।

प्रशंसा की कामना के बिना, श्रद्धा से, भावोल्लास के साथ तथा कर्म क्षय हेतु सुपात्र को दान देना आदि दायक के गुण हैं।

आरंभनियत्ताणं, अकिंणंताणं अकारवेंताणं।
धम्मट्ठा दायव्वं, गिहीहिं धम्मे कयमणाणं।। 47।।
आरम्भ निवृत्तेभ्यः अक्रीणद्भ्यः अकारयद्भ्यः।
धर्मार्थम्दातव्यं, गृहीभिः, धर्मेकृतमनोभिः।। 47।।

हिंसा एवं परिग्रह से निवृत्ति, मूल्य देकर क्रय नहीं करने वाला, न दूसरों से मूल्य दिलाने वाला एवं धर्म–मार्ग में स्थित व्यक्ति को अर्थात् सुपात्र को ही दान देना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इय मोक्खहेउदाणं, दायव्वं सुत्तवण्णियविहिए।
अणुकंपादाणं पुण, जिणेहिं सव्वत्थ न निसिद्धं।। 48।।
इति मोक्षहेतुदानं, दातव्यं सूत्रवर्णित–विधिना।
अनुकम्पा दानं पुनः, जिनैः सर्वत्र न निषिद्धम्।। 48।।

सूत्रों में वर्णित विधि के अनुसार सुपात्र को मोक्ष प्राप्ति हेतु दान देना चाहिये। जिनेश्वर परमात्मा ने अनुकंपा दान का निषेध नहीं किया है परन्तु यह दान परम्परा से मोक्ष का कारण हो सकता है पर साक्षात् मोक्ष का हेतु नहीं है।

केसिंचि होइ चित्तं, वित्तं अन्नेसिमुभयमन्नेसिं।
चित्तं वित्तं पत्तं, तिन्नि वि केसिंचि धन्नाणं।। 49।।
केषांचित् भवति चित्तं, वित्तं अन्येषां उभयं अन्येषाम्।
चित्तं वित्तं पात्रं त्रीणि अपि केषांचित् धन्यानाम्।। 49।।

(3) उपष्टम्भदान द्वारं

कोई–कोई श्रद्धालु मन से दान देते हैं क्योंकि न तो उसके पास वित्त होता है और न सुपात्र का योग मिलता है। कुछ लोगों के पास वित्त तो होता है परन्तु दान देने की भावना (चित्त–वृत्ति) नहीं होती है और न सुपात्र का योग मिलता है। विरले ही कोई ऐसे होते हैं जिन्हें वित्त, चित्त और पात्र तीनों ही उपलब्ध होते हैं।

आरोग्गं सोहग्गं, आणिस्सरियं मणिच्छिओ विहवो।
सुरलोयसंपया वि य, सुपत्तदाणाऽवरफलाइं।। 50।।
आरोग्यं सौभाग्यं आज्ञैश्वर्यं मनीषि तो विभवः।
सुरलोक संपदापि च सुपात्रदानापरफलानि।। 50।।

दान से आरोग्य, सौभाग्य, आज्ञाकारी सेवकों की सम्पदा, मनोवांछित वैभव तथा सुरलोक की समृद्धि की प्राप्ति तो होती ही है साथ ही मोक्ष पद की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी प्राप्ति होती है।

दाउं सुपत्तदाणं, तम्मि भवे चेव निव्वुआ के वि।
अन्ने तइयभवेणं, भोत्तूण नरामरसुहाइं।। 51।।
दत्वा सुपात्रदानं तस्मिन् भवे चैव निवृत्ता केचित्।
अन्ये तृतीयभवेन, भुक्त्वा नरामर–सुखादीन्।। 51।।

कुछ लोग सुपात्र दान देकर इसी भव में संसार परिभ्रमण रूप दुःखों से निवृत्त होकर सिद्ध गति को प्राप्त हो गये और कुछ लोग देव और मनुष्य गति के सुखों का उपभोग करके तीसरे भव में सिद्ध–पद को प्राप्त होंगे ?

जायइ सुपत्तदाणं, भोगाणं कारणं सिवफलं च।
जह दुण्ह भाउआणं, सुयाण निवसूरसेणस्स।। 52।।
जायते सुपात्रदानं, भोगानां कारणं शिवफलं च।
यथा द्वयोः भातृयोः सुतयोः नृपशूरसेनस्य।। 52।।

सुपात्र दान सांसारिक–सुखों का भी हेतु है तथा साथ ही शिव–सुख का भी दाता है। जैसे– सुपात्र दान से सूरसेन राजा के दोनों पुत्रों को सांसारिक सुखों एवं शिव–सुख दोनों की प्राप्ति हुई।

पहसंतगिलाणेसुं, आगमगाहीसु तह य कयलोए।
उत्तरपारणगम्मि य, दिन्नं सुबहुप्फलं होइ।। 53।।
पथश्रान्तेभ्यग्लानेभ्यः आगमग्राहिभ्यः तथा च कृत लोचेभ्यः।
उत्तरपारणके च दत्तं सुवहुफलं भवति।। 53।।

पदयात्रा से श्रमित हुये, ग्लान, शास्त्रज्ञ, और तपस्वी अणगार को दिया गया आहारादि का दान अत्यन्त फलदायी होता है।

बज्झेण अणिच्चेण य, धणेण जइ होइ पत्तनिहिएणं।
निच्चंतरंगरूवो, धम्मो ता किं न पज्जतं ?।। 54।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाह्येन अनित्येन च धनेन यदि भवति पात्र निक्षिप्तेन।
नित्यं अन्तरङ्गरूपः धर्मः तर्हि किं न परिपूर्णः।। 54।।

अनित्य एवं बाह्य साधन (धनादि) द्वारा सुपात्र को दिये हुये दान से जब मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है तो अर्हद् प्रणीत धर्म के अंतरंग पालन से क्या मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य होगी।

दारिदं दोहग्गं, दासत्तं दीणया सरोगत्तं।
परपरिभवसहणं चिय, अदिन्नदाणेणऽवत्थाओ।। 55।।
दारिद्रयं दौर्भाग्यं दासत्वं दीनता सरोगत्वं।
परिभवसहनं चैव, अक्षतदानेन (इति) अवस्थाः।। 55।।

शक्ति होने पर भी सुपात्र को दान नहीं देने से व्यक्ति परलोक में अर्थात् अगले जन्मों में दरिद्रता, दौर्भाग्य, दासत्व, दीनता, रूग्णता आदि दुःखों को प्राप्त करता है।

ववसायफलं विहवो, विहवस्स फलं सुपत्तविणिओगो।
तयभावे ववसाओ, विहवोचिय दुग्गइनिमित्तं।। 56।।
व्यवसाय फलं विभवः, विभवस्य फलं सुपात्राविनियोगः।
तदभावे व्यवसायः विभवश्चैव दुर्गतिनिमित्तम्।। 56।।

परिश्रम का फल वैभव है, वैभव का फल सुपात्रदान है। यदि दान नहीं देते हैं तो परिश्रम एवं वैभव दोनों ही दुर्गति के निमित्त बन जाते हैं।

पायं अदिन्नपुव्वं, दाणं सुरतिरियनारयभवेसु।
मणुयत्ते वि न देज्जा, जइ तं तो तं पि नणु विहलं।। 57।।
प्रायः अदत्तपूर्वं, दानं सुरतिर्यङ्नारकभवेषु।
मनुजत्वेऽपि न दद्यात्, यदि तदपि ननु विफलं।। 57।।

नारक, तिर्यंच, देव आदि के भवों में व्यक्ति प्रायः दान नहीं दे पाता है और यदि मनुष्य भव में भी दान नहीं दिया तो फिर वह मनुष्य जन्म भी व्यर्थ हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्नयविहवो वि कुलुग्गओ वि समलंकिओ वि रूवी वि।
पुरिसो न सोहइच्चिय, दाणेण विणा गयंदुव्व।। 58।।
उन्नत–विभवोऽपि कुलाग्रकोऽपि समलङ्कृतोऽपि रूपी अपि।
पुरूषः न शोभते एव, दानेन बिना गजेन्द्र इव।। 58।।

विपुल ऐश्वर्य–संयुक्त उत्तम कुल में जन्म लेकर अलंकारों से सुसज्जित सौन्दर्यशाली पुरूष भी दान के बिना उसी प्रकार शोभायमान नहीं होता, जिस प्रकार गजेन्द्र (हाथी) मद के बिना।

लद्धो वि गरुयविहवो, सुपत्तखेत्तेसु जेहिं न निहितो।
ते महुराउरिवणिओव्व, मायणं हुंति सोअस्स।। 59।।
लब्धोऽपि महान् विभवः सुपात्रक्षेत्रेषु यदि न निक्षिप्तः।
ते मथुरापुरीवाणिगिव, भाजनं भवन्ति शोकस्य।। 59।।
इति पुष्पमाला वृत्तौ तृतीय–मुपष्टम्भद्वारं समाप्तम्।

सुपात्र दान के योग्य क्षेत्र अर्थात् साधु के मिलने पर भी यदि व्यक्ति वैभव के त्याग रूप दान नहीं देता है तो ऐसा व्यक्ति मथुरापुरी के सेठ के समान अति शोक का कारण बन जाता है।

(2) शीलाधिकारः

इय इक्कं चिय दाणं भणियं नीसेसगुणगणनिहाणं।
जइ पुण सीलं पि हवेज्ज, तत्थ ता मुद्दियं भुवणं।। 60।।
इति एकं चैव दानं, भणितं निःशेष गुणगणनिधानम्।
यदि पुनः शीलं अपि भवेत्, तत्र मुद्रितं (स्थगितं) भवन।। 60।।

कहा गया है कि एक मात्र दान ही सभी गुणों की प्राप्ति का मूल स्रोत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके साथ शील का पालन कर लिया तो फिर सम्पूर्ण संसार को ही जीत लिया ऐसा कहा जा सकता है।

इति पुष्पमाला वृत्तौ तृतीय–मुपष्टम्मद्वारं समाप्तम्।

जं देवाण वि पुज्जो, भिक्खानिरओ वि सीलसंपुन्नो।
पुहइवई वि कुसीलो, परिहरणिज्जो बुहयणस्स।। 61।।
यद् देवानां अपि पूज्यः भिक्षानिरतोऽपि शीलसम्पन्नः।
पृथ्वीपति अपि कुशीलो, परिहरणीयः बुधजनस्य।। 61।।

जो भिक्षा चर्या करते हैं तथा शील सम्पन्न है, वे देवताओं द्वारा भी पूजनीय है तथा जो पृथ्वी पति है परन्तु दुराचारी है, वे बन्धुजनों के द्वारा भी त्याज्य है।

कस्स न सलाहणिज्जं, मरणं पि विसुद्धसीलरयणस्स।
कस्स व न गरहणिज्जा, वियलियसीला जियंता वि।। 62।।
कस्य न सलाभनित्यं, मरणमपि विशुद्धशीलरत्नस्य।
कस्य वा न गर्हनीया विगलितशीला जीवन्तोऽपि।। 62।।

विशुद्ध शील रत्न वाले का मरण भी प्रशंसनीय है तथा विगलित शील (दुराचारी) वाले का जीना भी निंदनीय है।

जे सयलपुहविभारं, वंहति विसहंति पहरणुप्पीलं।
नणु सीलभरुव्वहणे, ते वि हु सीयंति कसरुव्व।। 63।।
ये सकल पृथ्वीभारं, बहन्ति विसहन्ते प्रहरणोत्पीड़ाम्।
ननु शीलभरोद्वहने, तेऽपि खलु सीदन्ति कसरं इव।। 63।।

कुछ व्यक्ति सम्पूर्ण पृथ्वी के भार को धारण करते हैं अर्थात् प्रज्ञा का पालन करते हैं तथा शत्रु के प्रहार को भी सहन कर लेते हैं, परन्तु शील रत्न के भार को वहन करने में कोल्हू के बैल की तरह अपने को खेदित अनुभव करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रइरिद्धिबुद्धिगुणसुं–दरीण तह सीलरक्खणपयत्तं।
सोऊण विम्हयकरं, को मइलइ सीलवररयणं ? ।। 64।।
रतिरिद्धिबुद्धिगुण सुन्दरीणां तथा शीलरक्षणप्रयत्नम्।
श्रुत्वा विस्मयकरं, कः मलिनयति शीलवररत्नम्।। 64।।

रति सुन्दरी, ऋद्धि सुन्दरी, बुद्धि सुन्दरी और गुण सुन्दरी भी शील–रत्न की सुरक्षा हेतु प्रयत्नशील की कथा को श्रवण कर विस्मय करती हैं तो फिर कौन अति श्रेष्ठ शील को मलिन करेगा ? अर्थात् यह जानकर कोई भी व्यक्ति अपने शील को दूषित करना नहीं चाहेगा।

जलही वि गोपयं चिय, अग्गी वि जलं विसं पि अमयसमं।
सीलसहायाण सुरा, वि किंकरा हुंति भुवणम्मि।। 65।।
जलधिरपि गोष्पदं इव, अग्निरपि जलं विषं अपि अमृतसमं।
शीलसहायानां सुरा अपि, किङ्कराः भवन्ति भुवनेऽस्मिन्।। 65।।

इस लोक में शील के प्रभाव से समुद्र भी मात्र गाय के खुर के समान अल्प जल वाला बन जाता है, अग्नि जल के समान शीतल बन जाती है, विष अमृत बन जाता है तथा देव भी सेवक बन जाते हैं।

सुरनररिद्धी नियकिंकरिव्व गेहंगणेव्व कप्पतरू।
सिद्धिसुहं पि व करयल–गयं व वरसीलकलियाणं।। 66।।
सुरनररिद्धि निजकिङ्करी इव गृहाङ्गणे इव कल्प तरूः।
सिद्धिसुखं अपि करतलगतं इव वरशीलकलितानाम्।। 66।।

श्रेष्ठ चरित्रवान् व्यक्तियों के लिये देवीय ऐश्वर्य एवं मानवीय सम्पदा स्वयं की दासी के समान अधीन होकर रहते हैं, मानों कल्पवृक्ष गृह आंगन में उपस्थित हो गया हो अथवा मानों सिद्धि का सुख उड़कर हस्त–कमल में आ गया हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सीयादेवसियाणं, विसुद्धवरसीलयरयणकलियाणं।
भुवणच्छरियं चरियं, समए लोए वि य पसिद्धं।। 67।।
सीतादेवसिकयोः, विशुद्धवरशीलरत्नकलितयोः।
भुवनाश्चर्यं चरितं समये लोकेऽपि च प्रसिद्धम्।। 67।।

सीता और देवसिका (देवसेना) का विशुद्ध एवं श्रेष्ठ–शील (चारित्र) रूपी रत्न शास्त्रों में और तीन लोकों में आश्चर्यकारी एवं प्रशंसनीय माना गया है।

विसयाउरेहि बहुसो, सीलं मणसा वि मइलियं जेहिं।
ते निरयदुहं दुसहं, सहंति जह मणिरहो राया।। 68।।
विषयातुरै बहुशः शीलं मनसापि मलिनीकृतं यैः।
ते नरकदुःखं दुःसहं, सहन्ते यथा मणिरथो राजा।। 68।।

विषयातुर होकर जिन्होंने अनेक बार मानसिक रूप से शील को मलिन कर दिया है, उनको असहनीय नरक के दुःखों को सहन करना पड़ता है जैसे–मणिरथ राजा।

चिंतामणिणा किं ? तस्स किं च कप्पद्दुमाइवत्थूहिं ? ।
चिंताईयफलकरं, सीलं जस्सऽत्थि साहीणं।। 69।।
चिन्तामणिना किं ? तस्य, किं च कल्पद्रुमादिवस्तुभिः।
चिंतातीतफलकरं, शीलं यस्यास्ति स्वाधीनम्।। 69।।

जिसके पास अचिन्तनीय मोक्षफल को प्रदान करने वाला शील रुपी धन है, उनके लिये चिंतामणिरत्न तथा कल्पवृक्ष भी व्यर्थ है।

इति पुष्पमाला विवरणे (द्वितीयः) शीलधर्मः समर्थितः।

इय निज्ज्यकप्पद्दुम–चिंतामणिकामधेणु माहप्पं।
धन्नाण होइ सीलं, विसेसओ संजुयं तवसा।। 70।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इति निर्जित कल्पद्रुम–चिन्तामणिकामधेनुमाहात्म्यं।
धन्यानां भवति शीलं, विशेषतः संयुक्ततपसां।। 70।।

कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न, कामधेनु, के महत्व को भी क्षीण करने वाला तप से युक्त शील–गुण विरलों को ही प्राप्त होता है, क्योंकि तप से युक्त शीलवान विशेष रुप से कर्मों की निर्जरा करता है।

समयपसिद्धं च तवं, बाहिरमब्भिंतरं च बारसहा।
नाऊण जहाविरियं, कायव्वं तो सुहत्थीहिं।। 71।।
समयप्रसिद्धं च तपः बाह्यमभ्यन्तरं च द्वादशधा।
ज्ञात्वा यथावीर्यं, कर्तव्यम् तद् सुखार्थिभिः।। 71।।

शास्त्र में आभ्यन्तर एवं बाह्य ऐसा बारह प्रकार का तप प्रसिद्ध है। जिसे गुरु के सान्निध्य में समझकर, मोक्ष सुख के लिये यथा शक्ति प्राप्त करना चाहिये।

जं आमोसहिविप्पो–सही य संभिन्नसोयपमुहाओ।
लद्धीओ हुंति तवसा, सुदुल्लहा सुरवराणं पि।। 72।।
यत् अमर्षौषधि–विप्रुडौषधिश्च संभिन्नश्रौतप्रमुखाः।
लब्धाः भवन्ति तपसा, सुदुर्लभाः सुर वराणाम् अपि।। 72।।

तप के प्रभाव से आमौषधि, विप्रदौषधि आदि भिन्न–भिन्न प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त होती है, जो देवताओं को भी दुर्लभ है।

सुरसुंदरिकरचालिय–चमरुप्पीलो सुहाइं सुरलोए।
जं भुंजइ सुरनाहो, कुसुममिणं जाण तव तरुणो।। 73।।
सुरसुन्दरी करचालितचमरोत्पीड़ः सुखानि सुरलोके।
यद् भुड़क्ते सुरनाथः, कुसुममात्रमिव जनीहि तपतरोः।। 73।।

कार्तिक सेठ ने पूर्व भव में किये विशुद्ध तप के प्रभाव से सुरलोक में इन्द्र के रुप में अप्सराओं द्वारा परिचालित छत्र–चामर आदि भौतिक सुखों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपभोग किया, किन्तु यह सुख तो तप रुपी वृक्ष का मात्र पुष्प है, तप रुपी वृक्ष का फल तो मोक्ष है। अतः तप अवश्य करना ही चाहिये।

जं भरहमाइणो च–क्किणो वि विप्फुरिनिम्मलपयावा।
भुंजंति भरहवासं, तं जाण तवप्पभावेणं।। 74।।
यद् भरतादयः चक्रिणोऽपि विस्फुरितनिर्मलप्रतापाः।
भुंजन्ति भरतवासं, तद् जानीहि तपः प्रभावेन।। 74।।

भरत चक्रवर्ती आदि राजाओं ने अपने निर्मल प्रताप को फैलाते हुये भरत क्षेत्र में जिस सुख–सम्पदा को प्राप्त किया, उसे उनके पूर्व भव में किये गये तप का ही प्रभाव समझना चाहिये।

पायाले सुरलोए, नरलोए वा नत्थि तं कज्जं।
जीवाण जं न सिज्झइ, तवेण विहिणाऽणुचिण्णेणं।। 75।।
पाताले सुरलोके नरलोके वापि नास्ति तद् कार्यम्।
जीवानां यत् न सिध्यति, तपसा विधिनाऽनुचीर्णेन।। 75।।

पाताल में, देवलोक में, मनुष्य लोक में ऐसा एक भी प्राणी नहीं है जिसका विधि पूर्वक किये गये तप से कोई कार्य सिद्ध न हुआ हो।

विसमं पि समं सभयं, पि निब्भयं दुज्जणो वि सुयणोव्व।
सुचरियतवस्स मुणिणो, जायइ जलणो जलणो वि जलनिवहो।। 76।।
विषमं अपि समं सभयं अपि निर्भयं दुर्जनोऽपि सुजन इव।
सुचरिततपसः मुनेः जायते ज्वलनः अपि जलनिवहः।। 76।।

मुनियों द्वारा पालन किये गये चारित्र एवं तप के प्रभाव से विरोधी भी मित्र बन जाते हैं, भयभीत भी निर्भय हो जाते हैं, दुर्जन भी सज्जन हो जाते हैं तथा अग्नि भी शीतल बन जाती है।

तवसुसियमंसरुहिरा, अंतोविप्फुरियगरुयमाहप्पा।
सलहिज्जंति सुरेहि वि, जे मुणिणो ताण पणओहं।। 77।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपः शोषित–मांसरूधिरः, अन्त विस्फुरितगरूकमाहात्म्याः।
श्लाध्यन्ते सुरैः अपि, ये मुनयः तेभ्यः प्रणतोऽहं।। 77।।

जिसने तप के द्वारा शरीर को कृश कर लिया है और अपने आंतरिक माहात्म्य को प्रकट कर लिया है तथा जो देवताओं के द्वारा प्रशंसनीय है, ऐसे मुनि को मैं प्रणाम करता हूँ।

(3) तपोऽधिकार :–

जं नंदीसेणमुणिणो, भवंतरे अमरसुंदरीणं पि।
अइलोभणिज्जरूवं, संपत्तं तं तवस्स फलं।। 78।।
यत् नन्दिषेणमुनेः भवान्तरे अमरसुन्दरीणां अपि।
अतिलोभनीयरूपं, सम्प्राप्तं तत् तपसः फलं।। 78।।

नंदीसेन मुनि को अग्रिम वासुदेव के भव में अप्सराओं को भी लुभानेवाला ऐसा परम सौन्दर्य प्राप्त हुआ, उसे तप का ही प्रभाव (फल) समझना चाहिए।

सुरअसुरदेवदाणव–नरिंदवरचक्कवट्टिपमुहेहिं।
भत्तीए संभमेण य, तवस्सिणो चेव थुव्वंति।। 79।।
सुरअसुर देवदानवनरेन्द्रवरचक्रवर्तिप्रमुखैः।
भक्त्या संभ्रमेण वा (च) तपस्विनः एव स्तूयन्ते।। 79।।

सम्यग्दर्शन से युक्त (दानव) वैमानिक देव (सुर) भवनपति, देव (असुर) ज्योतिष्क देव, (देव) तथा व्यन्तर देव (दानव) तथा सामान्य राजा, चक्रवर्ती सेनापति, श्रेष्ठि–गण आदि प्रमुख पुरुष भक्ति–भावपूर्वक तथा मिथ्यादृष्टि देव, मनुष्य आदि के भय से तपस्वी की स्तुति करते हैं।

पत्थइ सुहाइं जीवो, रसगिद्धो नेय कुणइ विउलतवं।
तंतूहिं विणा पडयं, मग्गइ अहिलासमित्तेण।। 80।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रार्थयते सुखानि जीवः, रसगृद्ध नैव करोति विपुलं तपः।
सः तन्तुभिः बिना पटकं मृगयते अभिलाषमात्रेण।। 80।।

संसारी प्राणी रस आदि में आसक्त बनकर वैषयिक सुख की कामना करते हुए विपुल–तप साधना नहीं करते हैं। उनकी यह इच्छा ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार तंतुओं के बिना कोई कपड़े की उपलब्धि की इच्छा करता है।

कम्माइं भवंतरसं–चियाइं अइकक्खडाइं वि खणेण।
डज्झंति सचिण्णेणं, तवेण जलणेण व वणाइं।। 81।।
कर्माणि भवान्तरसंचितानि अति–कर्कषाण्यपि क्षणेन।
दह्यन्ते सुचीर्णेन तपसा ज्वलेन इव बनानि।। 81।।

अनेक पूर्व–भवों में संचित किये गये अत्यन्त क्रूर कर्मों को भी सम्यक् रुप से की गई तपस्या द्वारा उसी प्रकार भस्म किया जा सकता है, जिस प्रकार अग्नि सम्पूर्ण वन को जला देती हैं।

होऊण विसमसीला, बहुजीवखयंकरा वि कूरा वि।
निम्मलतवाणुभावा, सिज्झंति दढप्पहारिव्व।। 82।।
भूत्वा विषमशीला, बहुजीव क्षयं–क्रूराऽपि।
निर्मलतपानुभावात्, सिध्यन्ति दृढ़प्रहारीव।। 82।।

दुराचारी, हिंसक और क्रूर कर्मों को करने वाले व्यक्ति भी निर्मल तप के प्रभाव से सिद्धि को प्राप्त हो सकते हैं।

संघगुरुपच्चणीए, तवोणुभावेण सासिउं बहुसो।
विण्हुकुमारुव्व मुणी, तित्थस्स पहावया जाया।। 83।।
संघगुरू प्रत्यनीकान् तपोऽनुभावेन शासितुं बहुशः।
विष्णुकुमार इव मुनिः, तीर्थस्य प्रभावकाः जाताः।। 83।।

संघ एवं गुरु का अवर्णवाद करने वाले व्यक्ति भी तपस्या द्वारा शासित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर सुदीर्घ कालावधि में विष्णुकुमार मुनि के सदृश बहुत से मुनि धर्म–तीर्थ की प्रभावना करने वाले हुये हैं।

होंति महाकप्पसुरा, बोहिं लहिउं तवेण विहुयरया।
जह खंदओ महप्पा, सीसो सिरिवीरनाहस्स।। 84।।
भवान्ति महाकल्प–सुराः, बोधिं लब्ध्वा तपसा विधूतरजाः।
यथा स्कन्दक महात्मा–शिष्यः श्रीवीरनाथस्य।। 84।।

तप के द्वारा अनेक व्यक्ति कर्मों की निर्जरा कर लघु कर्मी (अल्पकर्मी) हो महर्द्धिक देवलोक में देव हुये हैं जैसे– स्कंदकमुनि जो भगवान महावीर के शिष्य थे।

केत्तियमित्तं भणिमो ? तवस्स सुहभावणाए चिण्णस्स।
भुवणतए वि न जओ, अन्नं तस्सऽत्थि गुरुययरं।। 85।।
कियन्मात्रं भणामः ? तपसः शुभभावनया चीर्णस्य।
भुवनत्रयेऽपि न यतः अन्यत् तस्यास्ति गुरूकतरं।। 85।।

शुभ भावों के साथ सम्यक् प्रकार से किये गये तप की महिमा कहाँ तक कही जाये ? क्योंकि तप के द्वारा तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इससे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है।

इति पुष्पमाला विवरणे (तृतीयः) तपोधर्मः समर्थितः।

(4) भावनाऽधिकारः 1. सम्यक् शुद्धि द्वारं।

दाणं सीलं च तवो, उच्छुपुप्फं व निष्फलं होज्जा।
जइ न हिययम्मि भावो, होइ सुहो तस्सिमे हेऊ।। 86।।
दानं शीलं च तपः, इक्षुपुष्पमिव निष्फलं भवेत्।
यदि न हृदये भावः भवति शुभः तस्मिन् ऐते हेतवः।। 86।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दान, शील और तप ये सभी तब तक इक्षु के पुष्प की तरह निष्फल है, जब तक हृदय में शुभ भाव–रूपी धर्म न हो, क्योंकि शुभ भाव ही मोक्ष का हेतु है।

सम्मत्तचरणसुद्धी, करणजओ निग्गहो कसायाणं।
गुरुकुलवासो दोसाण, वियउणा भवविरागो य।। 87।।
विणओ वेयावच्चं, सज्झायरई अणाययणचाओ।
परपरिवायनिवित्ती, थिरया धम्मे परिन्ना य।। 88।।
सम्यक्त्व–चरणशुद्धि करणजयः निग्रहः कषायाणां।
गुरूकुलवासः दोषणां विकटना भवविरागश्च।। 87।।
विनयः वैयावृत्यं स्वाध्यायरतिः अनायतनत्यागः।
परपरिवादनिवृत्तिः स्थिरता धर्मे परिज्ञा च।। 88।।

सम्यक्त्वशुद्धि, चारित्रशुद्धि, इन्द्रिय–जय, कषाय–निग्रह, गुरु का सान्निध्य, प्रमाद आदि दोषों की आलोचना, भवविराग (निर्वेद), विनय, सेवा, स्वाध्याय में रति, अनायतनता, पर–परिवाद का त्याग, धर्म में स्थिरता और प्रत्याख्यान ये चौदह गुण शुभ–भाव के हेतु है।

किं सम्मत्तं? तं होज्ज, किह? णु कस्स? व गुणा ये के? तस्स।
कइभेयं ? अइयारा, लिंगं वा किं भवे ? तस्स।। 89।।
किं सम्यक्त्वं? तद् भवेत् कथं? ननु कस्य? वा गुणाश्च के।
तस्य कतिभेदादि अतिचाराः, लिङ्गं वा किं भवेत्? तस्य।। 89।।

सम्यक्त्व का स्वरुप क्या हैं ? सम्यक्त्व किस प्रकार से होता है ? सम्यक्त्व किसको होता है ? सम्यक्त्व के गुण क्या है ? सम्यक्त्व के कितने भेद है? सम्यक्त्व के अतिचार (दोष) क्या है ? और सम्यक्त्व की पहचान (लिंग) क्या है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिहं देवो गुरुण, सुसाहुणो जिणमयं मह पमाणं।
इच्चाइ सुहो भावो, सम्मत्तं बिंति जगगुरुणो।। 90।।
अर्हन् देवः गुरवः सुसाधवः जिनमतं महाप्रमाणं।
इत्यादि शुभ भावः सम्यकत्वं वदन्ति जगत् गुरवः।। 90।।

अरिहंत मेरे देव हैं, सुसाधु मेरे गुरु हैं, जिन–प्रणीत धर्म ही प्रमाण है, इत्यादि शुभ–भाव ही सम्यक्त्व है, ऐसा जगत्–गुरुओं अर्थात् तीर्थंकरों ने कहा है।

भमिऊण अणंताइं, पोग्गलपरियट्टसयसहस्साइं।
मिच्छत्तमोहियमई, जीवा संसारकंतारे।। 91।।
पावंति खवेऊणं, कम्माइं अहापवत्तिकरणेणं।
उवलनाएण कहमवि, अभिन्नपुव्विं तओ गंठिं।। 92।।
भ्रान्त्वा अनन्तानि, पुद्गल–परावर्तशत–सहस्त्राणि।
मिथ्यात्व–मोहित–मतयः जीवाः संसार–कान्तारे।। 91।।
प्राप्नुवन्ति क्षपयित्वा, कर्माणि यथाप्रवृत्तिकरणेन।
उपलज्ञानेन कथमपि अभिन्नपूर्वां ग्रंथिं ततः।। 92।।

मिथ्यात्व–मोह ग्रसितजीव संसार अटवी में अनन्त पुद्गल परावर्तन काल तक भ्रमण करता हुआ कदाचित् नदी–पाषाण न्याय से कर्म क्षय कर यथाप्रवृत्ति करण से ग्रन्थि–भेदन कर लेता है।

गंठिं भणंति मुणिणो, घणरागद्दोसपरिणइरूवं।
जम्मि अभिण्णे जीवा, न लहंति कयाइ सम्मतं।। 93।।
ग्रन्थीं भणन्ति मुनयः, घनरागद्वेष–परिणति–स्वरूपं।
यस्मिन् अभिन्ने जीवाः न लभन्ते कदापि सम्यक्त्वं।। 93।।

राग–द्वेष की तीव्र परिणति को मुनिगण ग्रन्थी कहते हैं। साधक जब तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस ग्रन्थी का भेदन नहीं करता है तब तक सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि यह ग्रन्थी–भेदन सम्यक्त्व की उपलब्धि है।

उल्लसियगरुयविरिया, धन्ना लहुकम्मुणो महऽप्पाणो।
आसण्णकालभवसि–द्धिया य तं केइ भिंदंति।। 94।।
उल्लसितगुरूक वीर्याः धन्या लघुकर्माणः महात्मानः।
आसन्नकाल–भवसिद्धिकाः च तं केचित् भिन्दन्ति।। 94।।

उल्लसित मन वाले, शक्ति सम्पन्न, अल्प कर्म वाले सौभाग्यशाली महात्मा शीघ्र ही ग्रन्थी भेदन करके सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

जे उण अभव्वजीवा, अणंतसो गंठिदेसपत्ता वि।
ते अकयगंठिभेया, पुणोवि वड्ढंति कम्माई।। 95।।
ये पुनः अभव्याजीवाः अनन्तशः ग्रंथिदेशं प्राप्ता अपि।
ते अकृत–ग्रंथिभेदाः पुनरपि वर्धयन्ति कर्माणि।। 95।।

अभव्य जीव अनेक बार ग्रन्थी–देश प्राप्त करने पर भी अर्थात् उस राग–द्वेष रुपी ग्रन्थी को जान लेने पर भी ग्रन्थी–भेदन नहीं कर पाते हैं, जिससे वे पुनः नवीन, प्रगाढ़ कर्मो के बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं।

तं गिरिवरं व भेत्तुं, अपुव्वकरणोग्गवज्जधाराए।
अंतोमुहूत्तकालं, गंतुं अनियट्टिकरणम्मि।। 96।।
तं गिरिवरं इव भेत्तुं, अपूर्व करणोग्रवज्रधारया।
अन्तमुहूर्तकालं, गन्तुम् अनिवृत्तिकरणं।। 96।।

पर्वत–भेदन में प्राप्त सफलता की तरह ही ग्रन्थी भेदन करने वाले साधक को अपूर्व आनन्द या वीर्योल्लास की ऐसी अनुभूति जो पूर्व में कभी नहीं हुयी, अपूर्वकरण कहलाती है। ऐसा साधक अन्तर्मुहूर्त काल में अनिवृत्तिकरण को प्राप्त करता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पइसमयं सुज्झंतो, खविउं कम्माइं तत्थ बहुयाइं।
मिच्छत्तम्मि उइण्णे, खीणे अणुइयम्मि उवसंते।। 97।।
प्रतिसमयं शुध्यन्तः, क्षपयित्वा कर्माणि तत्र बहुलानि।
मिथ्यात्वं उदीर्णे, क्षीणे अनुदिते उपशांते।। 97।।

प्रति समय अनन्त विशुद्धि द्वारा आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्म को अत्यन्त क्षीण करके, मिथ्यात्व की उदीरणा द्वारा मिथ्यात्व के दलिकों को पुनः संयोजन कर उन्हें उपशान्त कर लेता है।

संसारगिम्हतविओ, तत्तो गोसीसचंदणरसं व।
अइपरमनिव्वुइकरं, तस्संऽते लहइ सम्मत्तं।। 98।।
संसारग्रीष्मतप्त तत्वतः गोशीर्ष चन्दनरसं इव।
अति परमनिवृत्तिकरं, तस्य अन्ते लभते सम्यक्त्वं।। 98।।

जिस प्रकार चन्दन को पाकर गर्मी से तप्त संसार स्वतः शीतल हो जाता है वैसे ही अनिवृत्तिकरण रूपी चन्दन को पाकर मिथ्यात्वरूपी आग स्वतः शान्त हो जाती है। इस अनिवृत्तिकरण के अंत में जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

पुव्वपडिवन्नपडिवज्ज–माणया निरयमणुयदेवा य।
तिरिएसुं तु पवन्ना, बेइंदियमाइणो होज्जा।। 99।।
पूर्वप्रतिपन्न–प्रतिपद्यमान–काः नारकमनुजदेवाः च।
तिर्यंचेषु तु प्रतिपन्ना, द्वीन्द्रियादयः भवेयुः।। 99।।

नारक, देव और मनुष्य पूर्व प्रतिपन्न (बोध को प्राप्त) और प्रतिपद्यमान (उपदेश को प्राप्त) होते हैं। देव और मनुष्य धर्म श्रवण कर बोध को प्राप्त करते हैं। नारकीय वेदना सहन कर, कर्म निर्जराकर बोध को प्राप्त होते हैं तथा तिर्यंचों में भी बेइन्द्रिय आदि प्रतिपन्न हो सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पडिवज्जामाणया वि हु, विगलिंदिया अमणवज्जिया होंति।
उभयाभावो एगिंदिएसु सम्मत्तलद्धीए।। 100।।
प्रतिपन्नमानकाः अपि खलु विकलेन्द्रिया अमनस्काः भवन्ति।
उभयाभावात् एकेन्द्रियेषु सम्यक्त्वलब्धेः।। 100।।

विकलेन्द्रिय एवं अमनस्क भी पूर्व प्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान होकर भी विवेक शक्ति–रूप मन के अभाव के कारण और एकेन्द्रिय में इन दोनों का भी अभाव होने के कारण इन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति असम्भव है।

जह धन्नाणं पुहई, आहारो नहयलं व ताराणं।
तह नीसेसगुणाणं, आहारो होइ सम्मत्तं।। 101।।
यथा धान्यानां पृथ्वी, आधारः नभस्थलं वा ताराणां।
तथा निःशेष गुणानां, आधारः भवति सम्यक्त्वं।। 101।।

जैसे धान्य का आधार पृथ्वी है, तारों का आधार आकाश है, वैसे ही सम्पूर्ण गुणों का आधार सम्यक्त्व है।

सम्मदिट्ठी जीवो, गच्छइ नियमा विमाणवासीसु।
जइ न विगयसम्मत्तो, अहव न बद्धाउओ पुव्विं।। 102।।
सम्यग्दृष्टिः जीवः, गच्छति नियमात् विमानवासीषु।
यदि न विगतसम्यक्त्वं अथवा न बद्धायुः च पूर्वं।। 102।।

यदि सम्यक्त्व मलिन न हुआ हो अथवा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पूर्व आयु का बंध न किया हो तो सम्यग्दृष्टि जीव नियमतः विमानवासी देव ही होता है।

अचलियसम्मत्ताणं, सुरा वि आणं कुणंति भत्तीए।
जह अमरदत्तभज्जाए अहव निवविक्कमाईणं।। 103।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अचलियसम्यक्त्वानां, सुराः अपि आज्ञां कुर्वन्ति भक्त्या।
यथा अमरदत्त भार्यायाः अथवा नृपविक्रमादीनाम्।। 103।।

देवगण भी दृढ़ सम्यक्त्वी की आज्ञा का भक्ति पूर्वक पालन करते हैं। जैसे– अरमदत्त की भार्या अथवा विक्रम राजा आदि के प्रसंग कथानकों में उल्लेखित है।

अंतोमुहुत्तमित्तंपि, फासियं जेहिं हुज्ज सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढपोग्गल–परियट्टो चेव संसारो।। 104।।
अन्तर्मुहूर्तमात्रमपि स्पृष्टं (आसादितं) यैः भवेत् सम्यक्त्वं।
तेषां अपार्द्धपुद्गलपरावर्त एव संसारः।। 104।।

जिसने अन्तर्मुहूर्त मात्र भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया है, तो उसका संसार परिभ्रमण मात्र अर्धपुद्गल परावर्तन काल तक ही शेष रहता है।

लब्भंति अमरनरसंपया उ सोहग्गरूवकलियाओ।
न य लब्भइ सम्मत्तं, तरंडयं भवसमुद्दस्स।। 105।।
लभन्ते अमरनरसंपदं तु सौभाग्यरूपकलिताः।
न च लभ्यते सम्यक्त्वं तरण्डकं भव–समुद्रस्य।। 105।।

अनेक देव एवं मनुष्य भी सौभाग्य–कलि बाह्य संपदा को प्राप्त कर लेते हैं, परंतु संसार रूपी सागर से पार होने के लिये सम्यक्त्व की सम्पदा को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

खइयं खओवसमियं, वेययमुवसमियं च सासाणं।
पंचविहं सम्मत्तं पण्णत्तं वीयरागेहिं।। 106।।
क्षायिकं क्षयोपशमिकं वेदकं औपशमिकं सास्वादणं।
पंचविध सम्यक्त्वं प्रज्ञप्तं वीतरागैः।। 106।।

क्षायिक, क्षायोपशमिक, वेदक, औपशमिक और सास्वादान ये पांच प्रकार के सम्यक्त्व, वीतराग परमात्मा द्वारा प्रणीत हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकाकंखविगिच्छा, पासंडीणं च संथवपसंसा।
तस्स य पंचऽइयारा, वज्जेयव्वा पयत्तेणं।। 107।।
शंकाकाङ्क्षा विचिकित्सा पाखण्डीनां च संस्तवप्रशंसा।
तस्य च पंचाचाराः वर्जनीयाः प्रयत्नेन।। 107।।

शंका, काङ्क्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और उनका संस्तव (गुणगान) ये सम्यक्त्व के पांच अतिचार है। उन्हें प्रयत्न पूर्वक त्यागना चाहिये।

पिंडप्पयाणहुयणं, सोमग्गहणइलोयकिच्चाइं।
वज्जसु कुलिंगिसंगं, लोइयतित्थेसु गमणं च।। 108।।
पिण्डप्रदानं हवनं सोमग्रहणादि लोककृत्यानि।
वर्जय कुलिङ्गिसंगं, लौकिकतीर्थेषु गमनं च।। 108।।

पिण्डदान, हवन, चन्द्र ग्रहण, सूर्य ग्रहण आदि रूप लौकिक कर्म काण्डों का त्याग करें तथा कुलिंगी का संग और लौकिक तीर्थों पर जाने का भी त्याग करें।

मिच्छत्तभाविअच्चिय, जीवो भवसायरे अणाइम्मि।
दढचित्तो वि छलिज्जइ, तेण इमो नणु कुसंगेहिं।। 109।।
मिथ्यात्व भावित एव, जीवः भवसागरे अनादौ।
दृढ़चित्तोऽपि छल्यते तेन इमं अयं कुसङ्गैः।। 109।।

अनादि काल से भव्यजीव ने संसार में मिथ्यात्व–दशा से युक्त रहकर परिभ्रमण किया है। अतः सम्यक्त्वी एवं दृढ–चित्त वाला व्यक्ति भी कुसंगति के प्रभाव के कारण ही छला जाता है।

जस्स भवे संवेओ, निव्वेओ उवसमो य अणुकंपा।
अत्थित्तं जीवाइसु, नज्जइ तस्सऽत्थि सम्मत्तं।। 110।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यस्य भवेत् संवेगः निर्वेदः उपशमः च अनुकंपा।
अस्तित्वं जीवादिषु, ज्ञायते तस्यास्ति सम्यक्त्वं।। 110।।

संवेग, निर्वेद, उपशम, अनुकंपा और आस्तिक्य–ये पांच सम्यक्त्व के लक्षण है।

सव्वत्थ उचियकरणं, गुणाणुराओ रई य जिणवयणे।
अगुणेसु अ मज्झत्थं, सम्मद्दिट्ठिस्स लिगाइं।। 111।।
सर्वत्र उचितकरणं, गुणानुरागः रतिश्च जिनवचने।
अगुणेषु च मध्यस्थं, सम्यक्दृषेः लिङ्गानि।। 111।।

उचित क्रिया, गुणानुराग, जिनवचन में रूचि और अवगुणों के प्रति भी माध्यस्थ भाव ये सम्यग्दृष्टि के लक्षण है।

इति पुष्पमाला विवरणे (चतुर्थे) भावनाद्वारे सम्यक् बुद्धि लक्षणं प्रतिद्वारं समर्थितम्।

चरणरहियं न जाइइ, सम्मत्तं मोक्खसाहयं एक्कं।
तो जयसु चरणकरणे, जइ इच्छसि मोक्खमचिरेण।। 112।।
चरणरहितं न जायते, सम्यक्त्वं मोक्षसाधकं एकं।
तत्र यतस्व चरणकरणे, यत् इच्छसि मोक्षमचिरेण।। 112।।

बिना चारित्र सम्यक्त्वी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। अतः यदि मोक्ष पाने की प्रबल इच्छा हो तो चारित्र को स्वीकार करना ही होगा।

(11) चरण शुद्धि द्वारम्।

किं चरणं ? कइभेयं ?, तदरिहं पडिवत्तिविहिपरूवणया।
उस्सग्गऽववाएहि य, तं कस्स फलं व किं तस्स।। 113।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किं चरणं ? कतिभेदं ? तदर्हा प्रतिपत्ति विधि प्ररूपणा।
उत्सर्गापवादैः च, तत् कस्य फलं वा किं तस्य ?।। 113।।

चारित्र का स्वरूप क्या है ? चारित्र के कितने भेद है ? चारित्र के योग्य कौन है ? प्रतिपत्ति विधि की प्ररुपणा क्या है ? उत्सर्ग एवं अपवाद–मार्ग क्या है ? तथा उनका फल क्या है ? ये सभी जानना चाहिये।

सावज्जजोगविरई, चरणं ओहेण देसियं समए।
भेएण उ दुवियप्पं, देसे सव्वे य नायव्वं।। 114।।
सावद्ययोग–विरति, चरणं ओघेन देशितं समये।
भेदेन तु द्विविकल्पं देशे सर्वस्मिन् च ज्ञातव्यं।। 114।।

सावद्य योग का परिहार सम्यक्चारित्र है। सामान्यतः देशचारित्र एवं सर्व चारित्र इसके दो भेद है।

देसचरणं गिहीणं, मूलुत्तरगुणविअप्पओ दुविहं।
मूले पंच अणुव्वय, उत्तरगुण दिसिवयाईआ।। 115।।
देशचरणं गृहीणाम् मूलोत्तरगुणविकल्पकः द्विधिम्।
मूले पंच अणुव्रतानि, उत्तरगुण दिग्व्रता–द्याः(सप्त)।। 115।।

देशचारित्र का अधिकारी गृहस्थ है। देशचारित्र मूलगुण व उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार का है। मूलगुण पांच अणुव्रत है तथा उत्तरगुण दिशाव्रत आदि है।

पंच य अणुव्वाइं, गुणव्वयाइं च होंति तिन्नेव।
सिक्खावयाइं चउरो, सव्व चिय होइ बारसहा।। 116।।
पंच च अणुव्रतानि, गुणव्रतानि च भवन्ति त्रीण्येव।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि, सर्व एव भवति द्वादशधा।। 116।।

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इस प्रकार श्रावक व्रत के बारह भेद होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलुत्तरगुणभेएण, सव्वचरणं पि वण्णियं दुविहं।
मूले पंच महव्वय–राईभोअणविरमरणं च।। 117।।
मूलोत्तरगुणभेदेन, सर्वचरणमपि वर्णितं द्विविधम्।
मूले पंच महाव्रतानि रात्रिभोजनविरमणं च।। 117।।

वीतराग–प्रणीत सर्व चारित्र भी मूल गुण और उत्तर गुण भेद से दो प्रकार का है। मूल गुण पांच महाव्रत और रात्रि भोजन त्याग है।

पिंडविसेही समिई, भावण पडिमा य इंदियनिरोहो।
पडिलेहणगुत्तीओ, अभिग्गहा उत्तरगुणेसु।। 118।।
पिण्ड विशुद्दि समिति भावना प्रतिमा च इन्द्रियनिरोधः।
प्रतिलेखन गुप्तयः अभिग्रहाः उत्तरगुणेषु।। 118।।

पिंड–विशुद्धि, समिति–पालन, भावना, प्रतिमा–वहन, इन्द्रिय–निग्रह, प्रतिलेखन, त्रिगुप्ति और अभिग्रह ये उत्तर गुण के सत्तर भेद हैं।

इय एवमाइभेयं, चरणं सुरमणुअसिद्धिसुहकरणं।
जो अरिहइ इय घेत्तं, जे तमहं वोच्छं समासेणं।। 119।।
इति एव–मादिभेदं, चरणं सुरमनुजसिद्दिसुखकरणं।
यः अर्हति इति ग्रहीतुं, ये तम् अहं वक्ष्ये समासेन।। 119।।

सामायिक आदि चारित्र, देवलोक और मनुष्य लोक के सुखों के और परम आनन्द रूप मोक्ष के कारण है। अरिहंत परमात्मा ने जिस चारित्र को ग्रहण करने का कहा है उसे मैं संक्षेप में कहता हूँ।

संवेगभाविअमणो, सम्मत्ते निच्चलो थिरपइन्नो।
विजिइंदिओ अमाई, पन्नवणिज्जो किवालू अ।। 120।।
संवेगभावितमनाः, सम्यक्त्वे निश्चलः स्थिरप्रतिज्ञः।
विजितेन्द्रियः अमायः प्रज्ञापनीयः कृपालुश्च।। 120।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जइधम्मम्मि वि कुसलो, धीमं आणारुई सुसीलो अ।
विन्नायतस्सरूवो, अहिगारी देसविरईए।। 121।।
यति धर्मेऽपि कुशलः धीमान् आज्ञारूचिः सुशीलश्च।
विज्ञाततत्स्वरूपः अधिकारी देशविरति (प्रतिपत्तौ)।। 121।।

जिसका मन मोक्ष की अभिलाषा से भावित हो, जो सम्यक्त्व में निश्चल हो, प्रतिज्ञा में स्थिर हो, इन्द्रियों का विजेता हो, अमायावी हो और कृपालु (दयालु) हो, यति धर्म में कुशल हो, निपुण बुद्धि हो, आज्ञारूचि (आज्ञाकारी) हो, उत्तम स्वभाव वाला हो, चारित्र के स्वरूप का ज्ञाता हो, इतने गुणों का धारक देशविरति का अधिकारी है।

पाएण होंति जोग्गा, पवज्जाए वि तोच्चिय मणुस्सा।
देसकुलजाइसुद्धा, बहुखीणप्पायकम्मंसा।। 122।।
प्रायेण भवन्ति योग्या, प्रव्रज्यायाः अपि ते एव मनुष्याः।
देश–कुल–जानति शुद्धा, बहुक्षीणप्रायकर्माशाः।। 122।।

देश, कुल जाति शुद्ध संस्कारी हो, जिसका कर्म समूह प्रायः क्षीण हो गया हो, ऐसे मनुष्य प्रव्रज्या के अधिकारी होते हैं।

अट्ठारस पुरिसेसुं, वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसुं।
जिणपडिकुट्ठत्ति तओ, पव्वावेउं न कप्पंति।। 123।।
अष्टादश पुरूषेषु, विंशतिः स्त्रीषु दश नपुंसकेषु।
जिन प्रतिकुष्टाः तथा, प्रव्राजयितुं न कल्पन्ते।। 123।।

पुरुषों में अठारह, स्त्रियों में बीस, नपुंसक में दस प्रकार के व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य होते हैं। अतः जिनेश्वर परमात्मा ने इनको प्रव्रज्या देने का निषेध किया है।

बाले बुड्ढे नपुंसे य, कोबे जड्डे य वाहिए।
ते णे रायावगारी य, उम्मत्ते अ अदंसणे।। 124।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाले वृद्धे नपुंसके च, क्लीवे जड़े च व्याधिते।
स्तेने राजापकारिणि च, उन्मत्ते च (अदंसने)।। 124।।
दासे दुट्ठे य मूढ य, अ(रि)णेत्ते जुंगिए इय।
ओबद्धए य भयए, सेहनिप्फेडिया इय।। 125।।
दासे दुष्टे च मूढ़े च ऋणार्ते जुङ्गिते इति।
अवबद्धे च भृतके शैक्षकनिस्फेटिका च।। 125।।

दीक्षा के अयोग्य पुरुष के अठारह प्रकार निम्न है – बाल, वृद्ध, नपुंसक, क्लीब, जड़, रोगी, चोर, राजद्रोही, उन्मत्त, अंधा, दास, दुष्ट, मूढ़, कर्जदार, निन्दित–कुल आदि वाले परतंत्र (नौकर) एवं शैक्षनिःफेटिका (अर्थात् अपहरण किया हुआ)।

इय अट्ठारस भेया, पुरिसस्स तहित्थियाए ते चेव।
गुव्विणि सबालवच्छा, दोन्नि इसे होंति अन्ने वि।। 126।।
इति अष्टादश भेदा पुरूषस्य स्त्रियायाः ते चैव।
गुर्विणी सवालवत्सा, द्वौ इमौ भवतः अन्यावपि।। 126।।

दीक्षा के अयोग्य स्त्रियों के बीस प्रकार है जो अठारह दोष अयोग्य पुरुषों के है वे स्त्रियों के भी समझना चाहिये, इसके अतिरिक्त गर्भवती और बाल–वत्सा अर्थात् जिसका बच्चा स्तनपान करता हो ये दो भेद जोड़ने पर दीक्षा के अयोग्य स्त्रियों के कुल बीस भेद होते हैं।

पंडए वाइए कीबे, कुंभी ईसालुए त्ति य।
सउणी तक्कम्मेसवी य, पक्खियापक्खिए इय।। 127।।
पण्डकः वातिकः क्लीवः कुंभी ईर्ष्यालुकः इति च।
शकुनि तत्कर्मसेवी च पाक्षिकापक्षिकौ इति।। 127।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोगंधिए य आसित्ते, दस एए नपुंसगा।
संकिलट्ठ त्ति साहूणं, पव्वावेउं अकप्पिया।। 128।।
सौगान्धिकः च आसक्तः दश ऐते नपुंसकाः।
संक्लिष्ट इति साधूनां प्रव्राजयितुं अकल्पिताः।। 128।।

दीक्षा के अयोग्य नपुंसकों के निम्न दस भेद है – पण्डक, वातिक, क्लीब, कुम्भी, ईर्ष्यालु, शकुनि, तत्कर्मसेवी, पाक्षिक–अपाक्षिक, सौगंधिक, आसक्त ये दस प्रकार के नपुंसक अति संक्लिष्ट चित्त वाले होने के कारण दीक्षा के अयोग्य है।

वद्धिए चिप्पिए चेव, मंतओसहि उवहए।
इसिसत्ते देवसत्ते य, पव्वावेज्ज नपुंसए।। 129।।
वर्धितः चिप्पितः चैव मन्त्रौषधिउपहतः।
ऋषिशप्तः देवशप्तः च प्रव्राजयेत् नपुंसकान्।। 129।।

दीक्षा के योग्य नपुंसक के निम्न छह प्रकार है। वर्द्धित, चिपित, मंत्र तथा औषधी से उपहृत, ऋषि शापित, देव–शापित इन छः प्रकार के नपुंसकों में यदि दीक्षा की योग्यता हो तो दीक्षा दे सकते हैं।

महिलासहावो सरवण्णभेओ, मिंढं महंतं मउआ य वाणी।
संसद्दयं मुत्तमफेणगं च, एयाणि छप्पंडगलक्खणाणि।। 130।।
महिलास्वभावः स्वरवर्णभेदः मेण्ढ़ं महान्तं मृदवी च वाणी।
सशब्दं मूत्रमफेनकं च, एतानि षड्पण्डकलक्षणानि।। 130।।

महिला स्वभाव हो अर्थात् पुरूष होते हुये भी स्त्री की तरह चेष्टा करने वाला हो, जिसका स्वर और वर्ण एवं पुरूष के शब्दादि की अपेक्षा विलक्षण हो, जिसका पुरूष चिह्न स्थूल हो, जिसकी वाणी स्त्री की तरह मृदु हो, जिसका मूत्र शब्द युक्त हो एवं फेन (झाग) रहित हो– इन लक्षणों वाला नपुंसक दीक्षा लेने योग्य नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बालाइदोसरहियो, उवट्ठिओ जइ हविज्ज चरणऽत्थं।
तं तस्स पउत्तोलो–यणस्स सुगुरुहिं दायव्वं।। 131।।
बालादिदोषरहितः, उपस्थितः यदि भवेत् चरणार्थं।
तदा तस्य प्रयुक्ता–लोचनस्य सुगुरूभिः दातव्यं।। 131।।

पूर्वोक्त बालादि दोषों से रहित है, यदि वह प्रव्रज्या के लिये उपस्थित हुआ हो तो सर्वप्रथम उससे आलोचना करवाये, फिर सुगुरु उसे चारित्र अंगीकार करवाये।

आलोयणसुद्दस्स वि, दिज्ज विणीयस्स नाविणीयस्स।
नहि दिज्जइ आभरणं, पलियत्तियकन्नहत्थस्स।। 132।।
आलोचनाशुद्धियस्यापि, देयं न अविनीतस्य।
न हि दीयते आचरणं परिकर्तितकर्णहतस्य।। 132।।

आलोचना से शुद्ध होने पर भी यदि विनीत हो तो ही उसे प्रवज्या दे। जैसे– बिना कान एवं हाथ वालों को आभूषण नहीं दिये जाते वैसे ही अविनीत को दीक्षा नहीं दी जाती है।

अणुरत्तो भत्तिगओ, अमुई अणुवत्तओ विसेसन्नू।
उज्जुत्तोऽपरितंतो, इच्छियमत्थं लहइ साहू।। 133।।
अनुरक्तः भक्तिगतः अमोचकः अनुवर्तकः विशेषज्ञः।
उद्युक्तःऽपरितान्तो, इच्छितमर्थं लभते साधुः।। 133।।

गुरु भक्ति में अनुरत हो, यावज्जीवन गुरु चरणों का परिहार करने वाला न हो, सत्–असत् वस्तु के विवेक से युक्त हो, अध्ययन, सेवा आदि में प्रयत्नशील हो, गुरु आज्ञा को सुनकर दुःखी न होने वाला हो, ऐसे गुणों वाला विनीत होता है। अतः शिष्य में विनीतता के गुण का अन्वेषण करके ही प्रव्रज्या प्रदान करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विणयवओ वि हु कयमं–गलस्स तदविग्घपारगमणाय।
दिज्ज सुकओवओगो, खित्ताइसु सुप्पसत्थेसु।। 134।।
विनयवतः अपि खलु कृतमङ्गलस्य तदविघ्नपारगमणाय।
दातव्यं सुकृतोपयोगः क्षेत्रादिषु सुप्रशस्तेषु।। 134।।

जिसने जिन–चैत्य, संघपूजा आदि मंगल कार्य किये हैं, चारित्र के विघ्न को पार करने के लिये सुप्रशस्त क्षेत्रों में गुरू द्वारा बतायी विधि से साधना की हो, ऐसे विनयवान् को ही चारित्र की शिक्षा देनी चाहिये।

इय एवमाइविहिणा, पाएण परिक्खिऊण छम्मासा।
पव्वज्जा दायव्वा, सत्ताणं भवविरत्ताणं।। 135।।
इति एवमादिविधिना, प्रायेण परीक्षा षण्मासान्।
प्रव्रज्या दातव्या, सत्वानां भवविरक्तानां।। 135।।

इस प्रकार विधि पूर्वक छः मास तक परीक्षा करके भव–विरक्त होने पर ही प्रव्रज्या देनी चाहिये।

विहिपडिवन्नचरित्तो, दढधम्मो जइ अवज्जभीरू य।
तो सो उवट्ठविज्जइ, वएसु विहिणा इमो सो उ।। 136।।
विधिप्रतिपन्न चरित्रः, दृढ़धर्मः यदि अव्रतभीरू च।
ततः सः उपस्थाप्यते, व्रतेषु विधिना इयं सा तु।। 136।।

विधि पूर्वक प्रतिपन्न चारित्र वाला अर्थात् सामायिक चारित्र को प्राप्त यदि दृढधर्मी हो, पापभीरू हो, तो ही उसे व्रतों में उपस्थापित करना चाहिये।

पढिए य कहिय अहिगय, परिहारुट्ठावणाए सो कप्पो।
छज्जीवघायविरओ, तिविहंतिविहेण परिहा(?) री(रो)।। 137।।
पठिते च कथिते अधिगते परिहारोत्थापनायां सः कल्प्यः।
षड्जीवघातविरतः त्रिविधं त्रिविधेन परिहारी।। 137।।

जो सूत्र का अध्ययन कर तथा गुरु द्वारा उनके कार्य को सुनकर तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उनको सम्यक् प्रकार से धारण कर तीन योग से व तीन करण से छः जीव निकाय के घात से निवृत्त हो गये हैं, वे परिहारी कहलाते हैं।

अप्पत्ते अकहित्ता, अणहिगयऽपरिच्छणे य आणाई।
दोसा जिणेहिं भणिया, तम्हा पत्ता दुवट्ठावे।। 138।।
अप्राप्ते अकथयित्वा, अनधिगतापरिक्षणे च आज्ञादि।
दोषाः जिनैः भणिताः तस्मात् प्राप्ता द्वौ एव उपस्थापयेत्।। 138।।

उपस्थापना (बड़ी दीक्षा) के योग्य काल को अप्राप्त की और उसके श्रद्धान् और ज्ञान की परीक्षा किये बिना उपस्थापना नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे जिन–आज्ञा के उल्लंघनरूप दोष लगता हैं।

सेहस्स तिन्नि भूमी, जहन्न तह मज्झिमा य उक्कोसा।
राइंदिय सत्त चउमासिसा व छम्मासिया चेव।। 139।।
शैक्षस्य तिस्रो भूमिका, जघन्या तथा मध्यमा च उत्कृष्टा।
रात्र्यादिक सप्त चतुर्मासिका च षण्मासिका चैव।। 139।।

नव दीक्षित शिष्य को उपसम्पदा (महाव्रतारोहण) की तीन भूमिकायें है जघन्य से सात अहोरात्रि, मध्यम से चार मास और उत्कृष्ट से छहमास। इस कालावधि के पूर्ण होने पर शिष्य के ज्ञानादि का परीक्षण करके ही उसे उपसम्पदा प्रदान करना चाहिए।

पुव्वोवट्ठपुराणे, करण्जयठ्ठा जहिण्णया भूमी।
उक्कोसा उ दुम्मेहं, पहुच्च अस्सद्दहाणं च।। 140।।
पूर्वोपस्थ–पुराणे, करणजयस्था जघन्यिका भूमी।
उत्कृष्टा तु दुर्मेधसं, प्रतीप्य अश्रद्दानस्य च।। 140।।

पूर्व में जो महाव्रतों में उपस्थापित हो चुका था, किन्तु कारण–वशात् संयम से च्युत् होकर पुनः दीक्षित हुआ है, तो उसकी उपसम्पदा की जघन्य काल मर्यादा सात दिन–रात है। उपसम्पदा का उत्कृष्ट काल छहमास है। यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालावधि मन्द बुद्धियों के लिये है। मध्यम भूमि चार मास की है।

एमेव य मज्झिमिया, अणहिज्झंते असद्दहंते य।
भावियमेहाविस्स वि, करणजयट्ठा य मज्झिमिया।। 141।।
एवमेव च मध्यमिका, अनधियाने अश्रद्दानवति च।
भावितमेधाविनः अपि, करणजयस्था च माध्यमिका।। 141।।

दुर्मेधा के कारण, सूत्र का अध्ययन न होने के कारण अथवा मोहोदय के कारण एवं इन्द्रिय जय के लिये मध्यमा भूमि कही गयी है।

इय विहिपडिवन्नवओ, जएज्ज छज्जीवकायजयणासु।
दुग्गइनिबंधणचिच्य, तप्पडिवत्ती भवे इहरा।। 142।।
इति विधिप्रतिपन्नवतः यावत् षड्जीवकाययतनासु।
दुर्गतिनिबधंनं एव तत्प्रतिपत्ति भवेत् इतरथा।। 142।।

उक्त विधि से प्रतिपन्न व्रती, षट् जीवनिकाय की यतना (रक्षा) करे अन्यथा उसकी व्रत प्रतिपत्ति (प्रतिज्ञा) दुर्गति का कारण हो जायेगी, क्योंकि वह व्रत की प्रतिज्ञा भंग का दोषी होगा।

एगिंदिएसु पंचसु, तसेसु कयकारणाणुमइभेयं।
संघट्टणपरितावण–ववरोवणं चयसु तिविहेणं।। 143।।
एकेन्द्रियेषु पन्चषु त्रसेषु कृतकरणानुमतिभेदं।
संघट्टनपरितापनअवरोपणं चतुःषु त्रिविधिना।। 143।।

एकेन्द्रिय में पृथ्वी काय अप्काय आदि पांच स्थावर, त्रस में द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय प्राणियों का स्पर्श अथवा उन्हें परिताप पहुँचाया हो तथा उन्हें प्राणों से रहित किया हो अथवा कराया हो या ऐसा करने वालों का अनुमोदन किया हो तो उसका त्रिविध योग और त्रिकरण से त्याग करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जइ मिच्छदिट्ठियाण वि, जत्तो केसिंचि जीवरक्खाए।
कह साहूहिं न एसो, कायव्वो ? मुणियसारेहिं।। 144।।
यदि मिथ्यात्वदशामपि यस्मात् केषांचित् जीवरक्षायां।
कथं साधुभिः न एषः कर्तव्यः ? ज्ञात सारैः।। 144।।

यदि मिथ्यादृष्टि जीव भी स्व–स्वभाव से स्वजाति के जीवों की रक्षा करते हैं तो मुनित्व के मूल–तत्त्व को समझने वाले साधु को क्या जीव–रक्षा नहीं करनी चाहिये ? अर्थात् आवश्यमेव करनी चाहिये।

नियपाच्चएण वि, जणंति परपाणरक्खणं धीरा।
विसतुंबओवभोगी, धम्मरुई एत्थुदाहरणं।। 145।।
निजप्राणत्यागेनापि जनयन्ति परप्राणरक्षणं धीराः।
विषतुम्बकोपभोगी धर्मरूचिः अत्रोदाहरणं।। 145।।

धीर पुरूष दूसरे के प्राणों की रक्षा के लिये अपने प्राणों का भी उत्सर्ग (त्याग) कर देते हैं। जैसे – धर्म रूचि अणगार ने चींटियों की रक्षा के लिये विषैले तुम्बे के शाक को ग्रहण कर अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया।

कोहेण व लोभेण व, भएण हासेण वा वि तिविहेणं।
सुहुमेयरं पि अलियं, वज्जसु सावज्जसयमूलं।। 146।।
क्रोधेन वा लोभेन वा भयेन हासेन वापि त्रिविधेन।
सूक्ष्मेतरं अपि अलीकं, वर्जयेत् सावद्यशतमूलं।। 146।।

साधक क्रोधवश या लोभवश या भयवश अथवा हास्य हेतु सूक्ष्मतर भी मिथ्या वचन नहीं बोले, क्योंकि यह पाप का मूल है। अतः उसे त्रिविध योग एवं त्रिकरण से असत्य का परित्याग करना चाहिये।

लोए वि अलियवाई, वीससणिज्जो न होइ भुअंगोव्व।
पावइ अवन्नवायं, पियराण वि देइ उव्वेयं।। 147।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकेऽपि अलीकवादी, विश्वसनीयो न भवति भुजंग इव।
प्राप्नोति अवर्णवादं, पित्रोः अपि ददाति उद्वेगं।। 147।।

जिस प्रकार इस संसार में असत्य भाषण करने वाला सर्प के समान विश्वसनीय नहीं होता है। इसी प्रकार माता–पिता को कष्ट देने वाला भी निन्दनीय होता है।

आराहिज्जइ गुरुदेवयं व जणणिव्व जाणइ वीसंभं।
पियबंधवोव्व तोसं, अवितहवयणाो जणइ लोए।। 148।।
आराध्यते गुरूदेवाविव जनयति विस्रम्भं।
प्रियबान्धव इव तोषं, अवितथवचनं जनयति लोके।। 148।।

सत्य वचन बोलने वाला इस लोक में देव, गुरू एवं धर्म के समान मान्य होता है, माता की तरह विश्वसनीय होता है तथा प्रिय बन्धु की तरह आत्म तोष देने वाला होता है।

मरणे वि समावडिए, जंपंति न अन्नहा महासत्ता।
जन्नफलं निवपुट्ठा, जह कालगसूरिणो भयवं।। 149।।
मरणेऽपि समापतिते, जल्पन्ति न अन्यथा महासत्वाः।
यज्ञफलं नृपपृष्टा, यथा कालकासूरिणः भगवंतः।। 149।।

महासत्वशाली व्यक्ति (महापुरूष) मृत्यु के उपस्थित होने पर भी सत्य वचन का परित्याग नहीं करते हैं। जैसे– नृप के द्वारा यज्ञ का फल पूछने पर कालकाचार्य ने सत्य ही कहा था कि यज्ञ (हिंसा से युक्त यज्ञ) का फल नरक है।

वसुनरवइणाो अयसं, सोऊण असच्चवाइणोकित्तिं।
सच्चेण नारयस्स वि, को नाम रमिज्ज?अलियम्मि।। 150।।
वसुनरपतेः अयशः, श्रुत्वा असत्यवादिनः कीर्तिं।
सत्येन नारदस्य अपि, कः नाम रमेत ? अलीके।। 150।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसुराजा द्वारा असत्य वचन बोलने के कारण उनकी अपकीर्ति हुई एवं नारद के द्वारा सत्य वचन बोलने के कारण उनका सुयश फैला। ऐसा सुनकर कौन होगा जो असत्य बोलने में आनन्द लेगा ? अतः कोई भी असत्य नही बोलेगा।

अवि दंतसोहणं पि हु, परदव्वमदिन्नयं न गिण्हेज्जा।
इहपरलोगगयाणं, मूलं बहुदुक्खलक्खाणं।। 151।।
अपि दन्त शोधनमात्रमपि पर द्रव्यमादीन् एव न गृण्हीयात्।
इह पर लोकगतानां, मूलं बहुदुःखलक्षाणाम्।। 151।।

दन्त शोधन हेतु तृण मात्र उसके स्वामी की अनुमति के बिना नहीं लेना चाहिये, क्योंकि यह स्तेन कर्म इस लोक में एवं परलोक में प्राणियों के लिये अनेक दुःखों का कारण होता है।

तइयव्वए दढत्तं, गिहिणो वि नागदत्तस्स।
कह तत्थ होंति सिढिला, साहू कयसव्वपरिचाया?।। 152।।
तृतीयव्रते दृढत्वं, श्रुत्वा गृहस्थस्यापि नागदत्तस्य।
कथं तत्र भवन्ति शिथिला, साधवः कृत–सर्वपरित्यागाः।। 152।।

गृहस्थ जीवन में भी नागदत्त ने अस्तेय (अचौर्य) व्रत की दृढता से पालना की, तो फिर सावद्य योगों का परित्याग करने वाले साधु अचौर्य व्रत में शिथिल कैसे होंगे ? अर्थात् नहीं होंगे।

नवगुत्तीहिं विसुद्धं, धरिज्ज बंभं विसुद्धपरिणामो।
सव्ववयाण वि परमं, सुदुद्धरं विसयलुद्धाणं।। 153।।
नवगुप्तिभिः विशुद्धं, धरेत् ब्रह्म विशुद्ध–परिणामः।
सर्वव्रतानां अपि परमं सुदुर्धरं विषयलुब्धानां।। 153।।

साधक को नव गुप्तियों से विशुद्ध सर्व व्रतों में श्रेष्ठ विषयासक्त जीवों के लिये अति कठिन विशुद्ध परिणाम वाले इस ब्रह्मचर्य को धारण करना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए।

देवेसु वीयराओ, चारित्ती उत्तमो सुपत्तेसु।
दाणाणमभयदानं, वयाण बंभव्वयं परमं।। 154।।
देवेषु वीतरागः चारित्री उत्तमः सुपात्रेषु।
दानानां अभयदानं, व्रतानां ब्रह्मव्रतं परमं।। 154।।

जैसे देवों में उत्तम वीतराग परमात्मा, सुपात्रों में उत्तम चारित्रवान् मुनि, दान में उत्तम अभयदान है वैसे ही सब व्रतों में उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत है।

धरउ वयं चरउ तवं, सहउ दुहं वसउ वणनिकुंजेसु।
बंभवयं अधरिंतो, बंभा वि हु देइ मह हासं।। 155।।
धरतु व्रतं चरतु तपः सहतां दुःखं वननिकुंजेषु।
ब्रह्मव्रतं अधरन् ब्रह्मापि खलु ददाति मम हास्यं।। 155।।

व्रतों को धारण कर लिया, तप का आचरण कर लिया, दुःखों को सहन कर लिया, वन कुंजों में निवास कर लिया परन्तु यदि ब्रह्मचर्य व्रत–पालन नहीं किया तो ऐसे साधक पर और तो क्या स्वयं ब्रह्मा भी हँसेगा।

जं किंचि दुहं लोए, हइपरलोउब्भवं पि अइदुसहं।
तं सव्वं चिय जीवो, अणुभुंजइ मेहुणासत्तो।। 156।।
यत् किंचित् दुःखं लोके, इह–परलोकोद्भवमपि अतिदुःसहं।
तत् सर्वमेव जीवः, अनुभुङ्क्ते मैथुनासक्तः।। 156।।

इस लोक में एवं परलोक में जो भी अल्पदुःख या अतिदुःख हैं उन्हें मैथुन में आसक्त जीव ही भोगते हैं।

नंदंतु निम्मलाई, चरियाइं सुदंसणस्स महरिसिणो।
तह विसमसंकडेसु वि, बंभवयं जस्स अक्खलियं।। 157।।
नन्दन्तु निर्मलानि चरित्राणि सुदर्शनस्य महर्षेः।
तथा विषमसंकटेषु अपि, ब्रह्मव्रतं यस्य अस्खलितं।। 157।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महर्षि सुदर्शन का निर्मल चारित्र अभिनन्दनीय है, जो विषम समय में भी ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में अस्खलित रहें।

वंदामि चरणजुयलं, मुणिणो सिरिथूलभद्दसामिस्स।
जो कसिणभुयंगीए, पडिओ वि मुहे न निड्डसिओ।। 158।।
वन्दे चरण–युगलं, मुनैः श्री स्थूलभद्रस्वामिनः।
यः कृष्णभुजङ्गे, पतितः अपि मुखे न निर्दष्टः।। 158।।

मैं स्थूलिभद्र स्वामी के चरण युगल में वन्दना करता हूँ जो कृष्ण भुजंगीरूपी कोशागणिका के मुख में प्रवेश करके भी उसके द्वारा ग्रसित नहीं हुए अर्थात् उसके घर में निवास करते हुये भी उसमें आसक्त नहीं हो पाये।

जइ वहसि कहवि अत्थं निग्गंथं पवयणं पवण्णो वि।
निग्गंथत्ते तो सासणस्स मइलत्तणं कुणसि।। 159।।
यदि वहसि कथमपि अर्थं, निर्ग्रन्थं प्रवचनं प्रपन्नोऽपि।
निर्ग्रन्थत्वे ततः शासनस्य मालिन्यमेव करोति।। 159।।

यदि निर्ग्रन्थ प्रवचन को स्वीकार करके भी कोई मुनि अर्थ का संग्रह करता है तो वह जिन शासन को ही मलिन करता है।

तम्मइलणा उ सत्थे, भणिया मूलं पुणब्भवलयाणं।
निग्गंथो अत्थं, सव्वाणत्थं विवज्जेज्जा।। 160।।
तन्मलिनता तु शास्त्रे, भणिता मूलं पुनर्भवलतानां।
निर्ग्रन्थः ततः अर्थ, सर्वानर्थम् विवर्जयेत्।। 160।।

जिन शासन में परिग्रह को जन्म–मरण रूपी लता की उत्पत्ति का कारण बताया है। अतः निर्ग्रन्थ मुनि अनर्थों के मूल अर्थ का परित्याग करें।

जइ चक्कविट्टिरिद्धिं, लद्धं पि चयंति केइ सप्पुरिसा।
को तुज्झ असंतेसु वि, धणेसु तुच्छेसु पडिबंधो?।। 161।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि चक्रवर्तिऋद्धिं, लब्धां अपित्यजन्ति केचित् सत्पुरूषाः।
कः तव असत्सु अपि, धनेषु तुच्छेषु प्रतिबन्धः।। 161।।

चक्रवर्ती की ऋद्धि प्राप्त होने पर भी यदि सत्यपुरूष उसका त्याग कर देते हैं तो फिर परिग्रह से रहित मुनि इस सारहीन तुच्छ धनार्जन के प्रति आग्रह क्यों रखें ? अर्थात् नहीं रखना चाहिये।

वहवेरकलहमूलं, नाऊण परिग्गहं पुरिससीहा।
सरीरे वि ममत्तं चयंति चंपाउरिपहुव्व।। 162।।
बधवैर–कलह मूलं, ज्ञात्वा परिग्रहं पुरुषसिंहाः।
शरीरेऽपि ममत्वं, त्यजन्ति चम्पापुरीप्रभुरिव।। 162।।

पुरूषों में सिंह के समान अरिहन्त परमात्मा ने परिग्रह को हिंसा, विद्वेष एवं कलह का मूल बताया है। अतः साधक शरीर के प्रति भी ममत्व का त्याग कर दें, जैसे– चम्पापुरी के राजा कीर्तिचन्द ने किया।

पच्चक्खनाणिणो वि हु, निसिमत्तं परिहरंति वहमूलं।
लोइयसिद्धंतेसु वि, पडिसिद्धिमिणिं जओ भणियं।। 163।।
प्रत्यक्षज्ञानिनः अपि खलु, निशिभक्तं परिहरन्ति वधमूलं।
लौकिकसिद्धान्तेषु अपि, प्रतिषिद्धं इदं यतः भणितं।। 163।।

प्रत्यक्ष में प्राणियों की हिंसा का हेतु जानकर ज्ञानी जन भी रात्रि भोजन का परित्याग करते हैं। न केवल जैन सिद्धान्त में अपितु लौकिक सिद्धान्तों में भी रात्रिभोजन का निषेध कहा गया है।

इय अन्नाण वि वज्जं, निसिमत्तं विविहजीववहजणयं।
छज्जीवहियरयाणं, विसेसओ जिणमयट्ठियाणं।। 164।।
इति अन्यानां अपि वर्ज्यं निशिभक्तं विविधजीववधजनकं।
षड्जीवहित रतानां, विशेषतः जिनमतस्थितानां।। 164।।

जब विविध जीवों के वध का हेतु रात्रिभोजन अज्ञ लोगों के लिये भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्जनीय है तो फिर षट् जीव निकाय के हित में रत तथा जिन मत में स्थित जीवों के लिये तो यह विशेष रूप से वर्जनीय है।

इहलोयम्मि वि दोसा, रविगुत्तस्स व हवंति निसिभत्ते।
परलोए सविसेसा, निद्दिट्ठा जिणवरिंदेहिं।। 165।।
इहलोकेऽपि दोषाः रविगुप्तस्य इव भवन्ति निशिभक्ते।
परलोके सविशेषाः, निर्दिष्टा जिनवरेन्द्रैः।। 165।।

इस लोक में भी सूर्य के अस्त हो जाने पर रात्रि भोजन से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, तो फिर परलोक के विषय में क्या कहना ? जिनेश्वरों द्वारा भी रात्रि भोजन से नरक की प्राप्तिरूप अनेक विशेष दोषों का निर्देश किया गया है।

अलमेत्थ पसंगेणं, रक्खेज्ज महव्वयाइं जत्तेण।
अइदुहसमज्जियाइं, रयणाइं दरिद्दपुरिसोव्व।। 166।।
अलमत्र प्रसङ्गेन रक्षेः (त्वं) महाव्रतानि यत्नेन।
अतिदुःखसमार्जितानि, रत्नानि दरिद्र पुरूष इव।। 166।।

जैसे निर्धन (दरिद्र) पुरूष अत्यन्त परिश्रम से अर्जित रत्नादि को बडे यत्न से रक्षा करता है वैसे ही मुनियों को भी इन महाव्रतों रूपी रत्नों का यत्नपूर्वक रक्षण करना चाहिये अर्थात् उनमें कोई दोष नहीं लगाना चाहिये। इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त है।

ताणं च तत्थुवाओ, पंच य समिईउ तिन्नि गुत्तीओ।
जासुसमप्पइ सव्वं, करणिज्जं संजयजणस्स।। 167।।
तेषां च तत्रोपायः, पंच च समितयः तिस्रः गुप्तयः।
यासु समाप्यते सर्वं, करणीयं संयतजनस्य।। 167।।

इन महाव्रतों के परिपालनार्थ पांच समिति और तीन गुप्ति रूप सुरक्षा के उपाय है। महाव्रतों की रक्षा के लिये जो भी सारे उपाय बताए गये हैं वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयमात्मा के लिये अवश्य करने योग्य है।

पवयणमायाउ इमा, निद्दिट्ठा जिणवरोहिं समयम्मि।
मायं एयासु जओ, जिणभणियं पवयणमसेसं।। 168।।

प्रवचन–मातरः इमाः, निर्दिष्टाः जिनवरैः समये।
मातं एतासु यतः, जिन भणितं प्रवचनमशेषम्।। 168।।

तीर्थंकरों द्वारा शास्त्र में समिति एवं गुप्ति को प्रवचन माता कहा गया है। क्योंकि इन्हीं अष्ट–प्रवचन माताओ में जिन कथित द्वादशांगी रूप प्रवचन का सार तत्त्व समाहित है।

सुयसागरस्स सारो, चरणं चरणस्स सारमेयाओ।
समिईगुत्तीण परं, न किंचि अन्नं जओ चरणं।। 169।।

श्रुतसागरस्य सारः, चरणं चरणस्य सारमेता एव।
समितिगुप्तिभयः परं, न किन्चित् अन्यत्यतः चरणं।। 169।।

श्रुतसागर का सार चारित्र तथा चारित्र का सार समिति–गुप्ति रूप ये अष्ट प्रवचन माताएँ है, इनसे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है।

इरियाभासाएसण–आयाणे तह परिट्ठवणसमिई।
मणवयणकायगुत्ती, एयाओ जहक्कमं भणिमो।। 170।।

ईर्या भाषा एषणा, आदाने तथा परिष्ठापन–समिति।
मन–वचन–काय गुप्ति एताः यथाक्रमं भणामः।। 170।।

इन अष्ट प्रवचन माताओं के अन्तर्गत ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, संयमोपकरण ग्रहण निक्षेपण समिति, परिष्ठापन समिति, मनो गुप्ति, वाक् गुप्ति और काय गुप्ति समाहित है, जिन्हें यथाक्रम कहता हूँ।

आलंबणे य काले, मग्गे जयणाएँ चउहिं ठाणेहिं।
परिसुद्धं रियमाणो, इरियासमिओ हवइ साहू।। 171।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलम्बने च काले, मार्गे यतनायां चतुर्भिः स्थानैः।
परिशुद्धं रीयमाणः ईर्यासमितिमान् भवति साधुः।। 171।।

आलंबन, काल, मार्ग और यतना इन चारों के द्वारा परिशुद्ध पर्यटन (विहार) करने वाला साधु ईर्यासमिति का शोधक कहलाता है।

नाणाई आलंबण–कालो दिवसो य उप्पहविमुक्को।
मग्गो जयणा य पुणो, दव्वाइ चउव्विहो इणमो।। 172।।

ज्ञानादि आलम्बन–काल दिवसः च उपाश्रयविमुक्तः।
मार्गः यतना च पुनः द्रव्यादि चतुर्विधः इमं (वक्ष्यमाणेति)।। 172।।

साधुओं द्वारा ज्ञानादि की प्राप्ति निमित्त यात्रा को आलंबन रूप कहा जाता है। काल की अपेक्षा से दिन में गमन करना यतियों के लिये विहित है। मार्ग की अपेक्षा से उन्मार्ग को छोड़कर सम्यक् मार्ग से यात्रा करना चाहिये। द्रव्यादिक विषयक यतना चार प्रकार की है, जो इस प्रकार है

जुगमित्तनिहियदिट्ठी, खेत्ते दव्वम्मि चक्खुणा पेहे।
कालम्मि जाव हिंडइ, भावे तिविहेण उवउत्तो।। 173।।

युगमात्र निहित दृष्टिः, क्षेत्रै द्रव्ये चक्षुषा प्रेक्षेत।
काले यावत् हिण्डते, भावे त्रिविधेन उपयुक्तः।। 173।।

क्षेत्र से युग मात्र दृष्टि से देखते हुये चलना क्षेत्र विषयक यतना होती है। मार्ग में सूक्ष्म जीवादि को देखते हुये चलना क्षेत्र यतना है। सूक्ष्म जीवादि को देखते हुये चलना द्रव्य–यतना है। काल की अपेक्षा से दिन में ही यात्रा करना काल यतना है मन–वचन–काया से सजग होकर सावधानी पूर्वक गमन करना भाव यतना कहलाती है।

उद्धमुहो कहरत्तो, हसिरो सद्दाइएसु रज्जंतो।
सज्झायं चिंतंतो, रीएज न चक्कवालेणं।। 174।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊर्ध्वमुखः कथारक्तः, हसन् शब्दादिषु रज्यन्।
स्वाध्यायं चिन्तयन्, रीयेत न चक्रवालरचनं।। 174।।

यति ऊपर मुख करके अर्थात् ऊपर देखते हुए, बात-चीत करते हुए, हँसते हुए, शब्द आदि विषयों में आसक्त होकर स्वाध्याय, या चिन्तन करते हुए चक्रवाल गति से (गोलाकार रूप से) गमन नहीं करे।

तह होज्जिरियासमिओ, देहे वि अमुच्छिओ दयापरमो।
जह संथुओ सुरेहिं, वि वरदत्तमुणी महाभागो।। 175।।
तथा भवेत् ईर्यासमितो देहेऽपि अमूर्च्छितः दयापरमः।
यथा संस्तुतः सुरैः, अपि वरदत्तमुनिर्महाभागः।। 175।।

महाभाग परम दयालु वरदत्त मुनि अपने शरीर के प्रति भी निष्पृह भाव रखते हुए ईर्यासमिति पूर्वक गमन करते थे। इन्द्रादि देवों द्वारा प्रशंसित होते हुए भी अगर्वित होकर सजगतापूर्वक विहार करते रहे।

कोहाइहिं भएण व, हासेण व जो न भासए भासं।
मोहरिविगहाहिं तहा, भासासमिओ स विण्णेओ।। 176।।
क्रोधादिभिः भयेन वा, हास्येन वा यो न भाषते भाषां।
मोखर्यविकथाभ्यां तथा भाषा समितः सः विज्ञेयः।। 176।।

जो साधक क्रोध, भय एवं हास्य वश असत्य भाषण नहीं करता है, जो वाचाल नहीं है एवं विकथा नहीं करता है वह भाषा समिति का विज्ञाता कहलाता है।

बहुअं लाघवजणयं, सावज्जं निट्ठुरं असंबद्धं।
गारत्थियजणउचियं, भासासमिओ न भासेज्जा।। 177।।
बहुकं लाघवजनकं, सावद्यं निष्ठुरं असम्बद्धं।
ग्रहस्थजनोचितं, भाषा समितो न भाषेत।। 177।।

भाषा समिति का पालन करने वाला साधक मुनि व्यर्थ में नहीं बोले, हीनता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक भी न बोले। इसी प्रकार सावद्य (हिंसा युक्त वचन) निष्ठुर वचन एवं असम्बद्ध वचन भी न बोले। साथ ही जन समाज के लिये अरे, हे आदि सम्बोधन युक्त भाषा का भी प्रयोग न करें।

न विरुज्झइ लोयठिई, बाहिज्झइ जेण नेय परलोओ।
तह निउणं वत्तव्वं, जह संगयसाहुणा भणियं।। 178।।
न विरूध्यते लोकस्थितिः, बाध्यते येन नैव परलोकः।
तथा निपुणं वक्तव्यं, यक्षा संगत–साधुना भणितं।। 178।।

जिन वचनों से लोक स्थिति का विशेष न हो, परलोक भी बाधित न हो, मुनि ऐसी निपुण भाषा का प्रयोग करे जैसी संगत नामक मुनि ने की थी।

आहार उवहि सिज्जं, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं।
गिण्हइ अदीणहियओ, जो होइ स एसणासमिओ।। 179।।
आहार उपधि शय्या, उद्गमोत्पादनेषणा शुद्धं।
गृह्णाति अदीनहृदयः, यः भवति स एषणासमितो।। 179।।

श्रमण द्वारा दीनता रहित होकर उद्गत उत्पादन आदि दोषों से रहित आहार, वस्त्र उपधि एवं उपाश्रय आदि का जो ग्रहण किया जाता है उसे एषणासमिति कहते हैं।

आहारमेत्तकज्जे, सहसच्चिय जो विलंघइ जिणाणं।
कह सेसगुणे धरिही? सुदुद्धरं सो जओ भणियं।। 180।।
आहारमात्रकार्ये, सहसा एव यः विलङ्घयति जीनाज्ञां।
कथं शेषगुणे धरिष्यति ? सुदुर्धरं सः यतो भणितं।। 180।।

जो श्रमण आहार आदि से लिये बार–बार गृहस्थों के घरों में प्रवेश करता है तथा समिति के नियमों का उल्लंघन (अतिक्रमण) करता है वह श्रमण दुर्द्धर ब्रह्मचर्य आदि शेष गुणों का परिपालन कैसे करेगा ? ऐसा जिनेश्वर देव ने कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिणसासणस्स मूलं, भिक्खायरिया जिणेहिं पण्णत्ता।
एत्थ परितप्पमाणं, तं जाणसु मंदसद्धीयं।। 181।।
जिनशासनस्य मूलं, भिक्षाचर्या जिनैः प्रज्ञप्ता।
अस्यां परितप्यमानं, तं जनीहि मन्दश्रद्धाकं।। 181।।

उद्गम आदि दोषों से रहित भिक्षाचर्या जिनधर्म का आधार भूत तत्त्व है ऐसा जिनेश्वर परमात्मा द्वारा कहा गया है। इस प्रकार की भिक्षाचर्या से खेदित श्रमण को धर्म के प्रति मन्द श्रद्धा वाला ही समझना चाहिये।

जइ नरवइणो आणं, अकक्कमंता पमायदोसेणं।
पावंति बंधवहरोहच्छिज्जमरणावसाणाणि।। 182।।
तह जिणवराण आणं, अइक्कमंता पमायदोसेणं।
पावंति दुग्गइपहे, विणिवायसहस्सकोडीओ।। 182।।
यथा नरपते राज्ञां, अक्रामन्तो प्रमाददोषेण।
प्राप्नुवन्ति बन्धवधरोधच्छेदमरणावसानानि।। 183।।
तथा जिनवराणां आज्ञां अतिक्रामन्तः प्रमाददोषेण।
प्राप्नवन्ति दुर्गतिपथे विनिपातसहस्रकोटीः।। 183।।

जिस प्रकार प्रमादवश भी राजा की आज्ञा का अतिक्रमण करने वाला व्यक्ति रस्सी आदि से बांधा जाता है, लकड़ी आदि से पीटा जाता है, कारागृह में बन्दी बनाया जाता है, उसके शरीर के अवयव छेदे जाते हैं, यहाँ तक कि उसे मृत्यु–दण्ड भी दिया जाता है। उसी प्रकार जिनेन्द्र देव की आज्ञा का अतिक्रमण करने वाला भी सहस्त्र करोड वर्षों तक दुर्गति पथ को प्राप्त होता है।

जो जहं व तह व लद्धं, गिण्हइ आहारउवहिमाईयं।
समणगुणविप्पमुक्को, ससारपरवड्ढओभणिओ।। 184।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यः यथा वा तथा वा लब्धं, गृह्णाति आहारोपधिआदिकं।
श्रमणगुणविप्रमुक्तः, संसार प्रवर्धकः भणितः।। 184।।

जो श्रमण उद्गम आदि दोषों से दूषित आहार, उपधि आदि को ग्रहण करता है वह श्रमण गुणों से रहित होकर संसार की वृद्धि को प्राप्त होता है, ऐसा कहा गया है।

धणसम्म–धम्मरुइ–माइयाण साहूण ताण पणओऽहं।
कंठट्ठियजीएहि वि, न एसणा पिल्लिया जेहिं।। 185।।
धनशर्म–धर्मरूचि आदिकान् साधून् तान् प्रणतोऽहं।
कण्ठस्थितजीवैः अपि, न एषणा पीड़िता यैः।। 185।।

धनशर्मा एवं धर्मरूचि आदि श्रमण को मैं नमन करता हूँ, जिन्होंने मृत्यु को सन्मुख जानकर भी एषणा–समिति का अतिक्रमण (उल्लंघन) नहीं किया।

पडिलेहिऊण सम्मं, सम्मं च पमज्जिऊण वत्थूणि।
गिण्हेज्ज निक्खिवेज्ज व, समिओ आयाणसमिइए।। 186।।
प्रत्युपेक्ष्य सम्यक्, सम्यक् च प्रमृज्य बस्तूनि।
गृण्हीयात् निक्षिपेत् वा, समितः आदानसमित्या।। 186।।

जो श्रमण भलिभांति अवलोकन कर रजोहरण आदि से वस्तुओं का प्रमार्जन करके उन्हें ग्रहण करता है या उनका निक्षेप करता है वही श्रमण आदान–निक्षेपण समिति से युक्त है।

जइ घोरतवच्चरण, असक्कणिज्जं न कीरए इण्हिं।
किं सक्का वि न कीरइ ?, जयणा सुपमज्जणाइया।। 187।।
यदि घोरतपश्चरणं, अशक्यं–नित्यं न क्रियते इदानीम्।
किं शक्योऽपि न करोति ? यतना सुप्रमार्जनादिका।। 187।।

जो श्रमण तपस्या करने में अशक्त है, असमर्थ है तो भी क्या ऐसा श्रमण सम्यक् प्रमार्जना आदि की क्रियाएँ भी नहीं कर सकता है ? अर्थात् कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता है।

तम्हा उवउत्तेणं, पडिलेहपमज्जणासु जइयव्वं।
इह दोसेसु गुणेसु वि, आहरणं सोमिल ऽज्जमुणी।। 188।।
तस्मात् उपयुक्तेण, प्रतिलेखप्रमार्जनासु यतितव्यं।
इह दोषेषु गुणेषु अपि उदाहरणं सोमिलार्यमुनिः।। 188।।

अतएव प्रतिलेखन व प्रमार्जना की व्यवस्था का परिपालन अवश्य करना चाहिये। इन दोनों के परिपालन करने पर या नहीं करने पर दोष व गुण प्राप्ति के लिये दो उदाहरण समक्ष रखे सोमिलका व आर्य मुनि का।

आवायाइविरहिए, देसे संपेहणाइपरिसुद्धे।
उच्चाराइ कुणंतो, पंचमसमिइं समाणेइ।। 189।।
आपातादिविरहिते, देशे संप्रेक्षणादि परिशुद्धे।
उच्चारादि कुर्वन्तः पंचमीसमितिं समानयंति।। 189।।

तिर्यंच एवं मानव के आवागमन से रहित एवं प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन द्वारा विशुद्ध किये गये स्थान पर श्लेष्म, मल, मूत्र अनेषणीय एवं अतिरिक्त भक्त पानादि का परिस्थापन करना पांचवीं प्रतिस्थापना समिति कही जाती है।

धम्मरुइमाइणो इह, आहरणं साहुणो गयपमाया।
जेहिं विसमावइसु, वि मणसा वि न लंघिया एसा।। 190।।
धर्मरूचि आदयः इह, उदाहरणं साधवः गतप्रमादाः।
यैः विषमापत्स्वपि मनसा न विलङ्घिता एषा।। 190।।

इसके पालन का साक्षात् उदाहरण है – धर्म रूचि आदि मुनियों ने प्रमाद रहित होकर विषम परिस्थिति के आने पर भी मन से भी इस पांचवीं समिति का अतिक्रमण नहीं किया।

अकुसलमणोनिरोहो, सुसलस्स उईरणं तहेगत्तं।
इय निट्ठियमणपसरा, मणगुत्तिं बिंति महरिसणो।। 191।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अकुशलमनोनिरोधः, कुशलस्य उदीरणम् तथा एकत्वं।
इति निष्ठितमनप्रसरा, मनगुप्तिं ब्रुवते महर्षयः।। 191।।

मन की हिंसा, पापकारी प्रवृत्तियों का मन से निरोध करना एवं सूत्र तथा अर्थ के चिन्तन में मन को लगाना तथा मन की एकाग्रता बनाने के प्रयत्न को महर्षियों (तीर्थंकरों) ने मनोगुप्ति कहा है।

अवि जलहीवि निरुज्झइ, पवणोवि खलिज्जइ उवाएणं।
मन्ने न निम्मिओच्चिय, कोवि उवाओ मणनिरोहे।। 192।।
अपि जलधि अपि निरूध्यते, पबनोऽपि स्खल्यते उपायेन।
मन्ये न निर्मितो एव, कोऽपि उपायः मनोनिरोधे।। 192।।

संभव है समुद्र को पर्वत आदि के क्षेपण द्वारा आगे बढने से रोका जा सकता है, वायु को भी करकुण्डी उपाय द्वारा अवरूद्ध किया जा सकता है, परन्तु मन को रोकने का कोई भी उपाय नहीं है, और है तो एक ही उपाय है, वह हैं तीर्थंकरों द्वारा कहे गये सूत्रों के अध्ययन में मन को लगाकर उसका निरोध करना, जो सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

चिंतइ अचिंतणिज्जं, वच्चइ दूरं विलं घइ गुरुं पि।
गु आणरू वि जेण मणो, ममइ दुरायारमहिलव्व।। 193।।
चिन्तयति अचिन्तनीयं, व्रजति दूरं विलङ्घयति गुरूमपि।
गुरूणामपि येन मनो भ्रमति दुराचारमहिला इव।। 193।।

यह मन अचिन्तनीय विषयों का चिन्तन करता है, विस्तीर्ण समुद्रों एवं दुर्गम पर्वतों का भी उल्लंघन कर दुराचारिणी महिला की तरह यह चंचल मन महान् व्यक्तियों को भी भटका देता है।

जिणवयणमहाविज्जा–सहाइणो अह य केइ सप्पुरिसा।
रुंभंति तं पि विसमिव, पडिमापडिवन्नसड्ढोव्व।। 194।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनवचन महाविद्या–सहायिनः अथ च केऽपि सत्पुरूषाः।
रून्धन्ति तदपि विषमिव प्रतिमांप्रतिपन्न–श्राद्धः इव।। 194।।

तीर्थंकरों की प्रयत्न रूपी महाविद्या को अंगीकृत कर कुछ सत्पुरूष अपने चंचल मन का निरोध कर लेते हैं। जैसे प्रतिमा प्रतिपन्न श्रद्धावान् जिनदास ने विषम या विपरीत परिस्थितियों में भी अपने मन को वशीभूत कर लिया था।

अकुसलयणनिरोहो, कुसलस्स उईरणं तहेगत्तं।
भासाविसारएहिं, वइगुत्ती वण्णिया एसा।। 195।।
अकुशलवचन–निरोधः, कुशलस्य उदीरणं तथैकत्वं।
भाषाविशारदैः, वाक् गुप्ति वर्णिता एषा।। 195।।

हिंसाकारी या पापकारी वचनों का निरोध, अहिंसक वचन का कथन एवं मौन ऐसे त्रिरूपा भाषा विवेक को (भाषा विज्ञानियों ने) वाक् गुप्ति कहा है।

दम्मंति तुरगा वि हु, कुसलेहिं गया वि संजमिज्जंति।
वइवग्घिं संजमिउं निउणाण वि दुक्करं मन्ने।। 196।।
दम्यन्ते तुरगाऽपि खलु, कुशलैः गजाअपिसंयम्यन्ते।
वाग्व्याघ्रीं संयमितुं निपुणानाम् अपि दुष्करं।। 196।।

कुशल व्यक्तियों द्वारा घोडे का भी निग्रहण किया जा सकता है, हाथियों को भी अंकुश से वश में किया जा सकता है, परन्तु वाणी रूपी बाघिन को संयत करना निपुण पुरूषों के लिये भी अत्यन्त दुष्कर है।

सिद्धन्त नीइ कुसला केइ निगिण्हंति तं महासत्ता।
सन्नायगचोरग्गह–जाणगगुणदत्तसाहुव्व।। 197।।
सिद्धान्तनीतिकुशला केचित् निर्गृण्हन्ति तां महासत्वाः।
स्वजनैः चौरै र्ग्रहं–जाणक–गुणदत्त–साधु इव।। 197।।

सिद्धान्त एवं नीति में कुशल कतिपय महासत्वशाली साधु वाणी रूपी बाघिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को अपने वश में कर लेते हैं जैसे– गुणदत्त मुनि ने अपनी वाणी को वश में कर लिया।

जो दुट्ठगयंदो इव, देहो असमंजसेसु वट्टंतो।
नाणंकुसेण रुंभइ, सो मन्नइ कायगुत्तो त्ति।। 198।।
यः दुष्ट गजेन्द्रं इव, देहं असमंजेषु वर्तमानं।
ज्ञानाङ्कुशेण रून्धति, सः भण्यते कायगुप्त इति।। 198।।

जैसे दुष्ट हाथी को अंकुश द्वारा वशीभूत किया जाता है, उसी प्रकार जिसने अपनी काया को आगमिक ज्ञान–रूपी अंकुश से वश में कर लिया है उसे काय गुप्ति कहते हैं।

कुम्मुव्व सयांगे, अगोवंगाइं गोविउं धीरा।
चिट्ठंति दयाहउं, जह मग्गपवन्नओ साहू।। 199।।
कूर्म इव स्वऽङ्गे, अङ्गोपाङगानि गोपयित्वा धीराः।
तिष्ठन्ति दयाऽर्थं यथा मार्गप्रपन्नः साधुः।। 199।।

जिस प्रकार कछुआ अपने अंग–उपांगों को सदैव छिपाकर रखता है उसी प्रकार धैर्यशाली पुरूष जीवों पर करूणा करने के लिये अपनी काया का गोपन करते रहते हैं। वे मार्ग प्रपन्न साधु अपनी काय गुप्ति का कभी भी त्याग नहीं करते हैं।

इय निम्मलवयकलिओ, समिईगुत्तीसु उज्जुओ साहू।
तो सुत्तअत्थपोरिसि–कमेण सुत्तं अहिज्झिज्जा।। 200।।
इति निर्मलव्रतकलितः, समितिगुप्तिषु उद्युक्तः साधुः।
ततः सूत्रार्थपौरूषीक्रमेण सूत्रं अधीयेत।। 200।।

उपर्युक्त रीति से पवित्र व्रत सम्पन्न एवं समिति गुप्तियों से युक्त साधु भव्य जीवों के कल्याण के लिये एक–एक प्रहर पर्यन्त सूत्र, अर्थ तथा सूत्रार्थ का अध्ययन करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तम्मि अहीए विहिणा, विसेसकयउज्जमो तवविहाणे।
दव्वाइअपडिबद्धो, नाणादेसेसु विहरेज्जा।। 201।।
तस्मिन् अधीते विधिना, विशेषकृतोद्यमः तपः विधाने।
द्रव्यादि अप्रतिवद्धः नानादेशेषु विहरेत्।। 201।।

विधिपूर्वक सूत्रों का अध्ययन करने के पश्चात् तपस्या के प्रति विशेष उद्यम शील होकर तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से प्रतिबन्ध रहित होकर, अनेक देशों में विचरण करें (अर्थात् एक स्थान पर चिर समय तक नहीं रहे।)

पडिबंधो लहुयत्तं, न जणुवयारो न देसविन्नाणं।
नाणाईण अवुड्ढी, दोसा अविहारपक्खम्मि।। 202।।
प्रतिबन्धः लघुत्वं, न जनोपकारः न देश विज्ञानं।
ज्ञानादिनां अवृद्धिः, दोषा अविहारपक्षे।। 202।।

एक ही स्थान में रहने पर श्रावको से रागात्मक सम्बन्ध हो जाते हैं। साथ ही उस रागात्मक सम्बन्ध के कारण मुनि के वचनों का विरोध होता है, जिससे रागात्मकता दृढ़ होती है, एवं लघुता नहीं आती है तथा अहंकार पनपता है। विचरण नहीं होने से जन सामान्य का उपकार भी नहीं होता एवं अन्य देशों के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं होती है, और न ज्ञानादि में वृद्धि हो सकती है। विहार न करने पर अनेक दोषों के आने की सम्भावना रहती है। अतः साधु को अप्रतिबन्धित होकर सदैव विहार करना चाहिए।

गयणं व निरालंबो, हुज्ज धरामंडलं व सव्वसहो।
मेरुव्व निप्पकपो, गंभीरो नीरनाहुव्व।। 203।।
गगनं इव निरालम्बः भवेत् धरामण्डलं इव सर्वसहः।
मेरूः इव निष्प्रकम्पः, गम्भीरः नीरनाथंइव।। 203।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चंदुव्व सोमलेसो, सूरुव्व फुरंत उग्गतवत्तेओ।
सीहुव्व असंखोभो, सुसीयलो चंदणवणुव्व।। 204।।
पवणुव्व अप्पडिबद्धः, भारंडविहंगमुव्व अप्पमत्तो।
मुद्धवहुव्वऽवियारो, सारयसलिलं व सुद्धमणो।। 204।।
चन्द्रं इव सोम्यलेश्यः, सूर्य इव स्फुरत–उग्रतपतेजः।
सिंह इव असंक्षोभ्यः, सुशीतलः चन्दनवनमिव।। 205।।
पवनं इव अप्रतिवद्धः, भारण्डविहगंइव अप्रमत्तः।
मुग्धवधुवदविकारः, सागरसलिलं इव शुद्धमनः।। 205।।

साधु को आकाश की तरह आधार रहित धरती के समान सहनशील, सुमेरू पर्वतवत् निष्प्रकम्प, सागर जैसे गंभीर, चन्द्रमा के समान सौम्य, सूर्य की तरह उग्र अर्थात् तप तेज से युक्त, सिंह के समान अक्षुब्ध, चन्दन की तरह शीतल, पवन के समान अप्रतिबद्ध, भारण्ड पक्षी के तरह अप्रमत्त, मुग्ध एवं भोली वधु के समान विकार रहित तथा सागर के समान पवित्र मन वाला होना चाहिये।

वज्जेज्ज मच्छरं पर–गुणेसु तह नियगुणेसु उक्करिसं।
दूरेणं परिवज्जसु, सुहसीलजणस्स संसग्गिं।। 206।।
वर्जयेत् मत्सरं परगुणेषु तथा निज गुणेषु उत्कर्षम्।
दूरेण परिवर्जयेत्, सुखशीलजनस्य संसर्गम्।। 206।।

दूसरों के गुणों की ईर्ष्या का त्याग करे एवं स्वगुणों के गर्व का त्याग करे। सुख में लिप्त लोगों के संसर्ग का दूर से ही त्याग करें।

पासत्थे ओसन्नो, कुसीलसंसत्तनी अहाछंदो।
एएहिं समाइन्नं, न आयरेज्जा न संसेज्जा।। 207।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वस्थः अवसन्नः, कुशीलसंसक्तयथाछन्दः।
एतैः समाचीर्णं, न आचरेत् नापि प्रशंसेत्।। 207।।

पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील मूलगुणों एवं उत्तरगुणों में दोषों से युक्त अर्थात् दूषित चारित्र वाले, स्वेच्छाचारी या उत्सूत्र प्ररुपणा करने वालों के साथ समाचीर्ण अर्थात् वंदन–व्यवहार आदि न करे और न उनकी प्रशंसा करें। टीकाकार के अनुसार उनसे ज्ञानार्जन आदि का कार्य होने पर वंदन किया जा सकता है अन्य स्थितियों में वन्दन से दोषोत्पत्ति का प्रसंग आता है।

पेज्जं भयं पओसो, पेसुन्नं रई हासो।
अरई कलहो सोगो, जिणेहिं साहूण पडिकुट्ठो।। 208।।
प्रेम भयं प्रद्वेषः, पेशून्यं मत्सरः रतिः हासः।
अरतिः कलहः शोकः जिनैः साधुनां प्रतिक्रुष्टः।। 208।।

जिनेश्वर परमात्मा ने साधुओं के लिये स्वजनों के प्रति प्रेम, परिषह एवं उपसर्ग आदि से भय, जीवाजीवों के प्रति आक्रोश, दुर्जनता, मात्सर्य, रति, हास्य, अरति, कलह, शोक आदि करने का निषेध किया है।

वंदिज्जंतो हरिसं, निंदिज्जंतो करेज्ज न विसायं।
न हि नमियानिंदियाणं, सुगइं कुगइं च बिंति जिणा।। 209।।
वन्धमानो हर्षं, निन्द्यमानः न कुर्यात् विषादं।
न हि नमित निन्दितानां, सुगतिं कुगतिं च ब्रुवते जिनाः।। 209।।

साधु धनवानों द्वारा अभिनन्दित होने पर प्रसन्नता एवं निन्दित होने पर विषाद प्रकट न करें, क्योंकि जिनेश्वर परमात्मा ने अभिनन्दित साधु की सुगति एवं निन्दित साधु की दुर्गति होती है– ऐसा नहीं कहा है।

अप्पा सुगइं साहइ, सुपउत्तो दुग्गइं दुपउत्तो।
तुट्ठो रुट्ठो य परो, न साहओ सुगइकुगईणं।। 210।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा सुगतिं साधयति, सुप्रयुक्तः दुर्गतिं दुष्प्रयुक्तः।
तुष्टः रूष्टः च परः न साधकः सुगतिकुगतयोः।। 210।।

ज्ञानादि मार्ग में स्थित आत्मा ही सुगति को प्राप्त होती है। उसी प्रकार उन्मार्ग में अवस्थित आत्मा दुर्गति को प्राप्त होती है। साधक न सुगति से संतुष्ट होता है न दुर्गति से रूष्ट होता है।

लहुकम्मो चरमतणू, अणंतवीरिओ सुरिंदपणओ वि।
सव्वोवायविहिन्नू, तियलोयगुरु महावीरो।। 211।।
लघुकर्मा चरमतनुः, अनन्तवीर्यः सुरेन्द्रप्रणतः अपि।
सर्वोपायाविधिज्ञ, त्रयलोकगुरुः महावीरः।। 211।।
गोपालमाइएहिं, अहमोहिं उईरिए महाघोरे।
जो सहइ तहा सम्मं, उवसग्गपरीसहे सव्वे।। 212।।
गोपालादिभिः अधमैः उदीरिते महाघोरे।
यः सहते तथा सम्यक् उपसर्गपरिषहौ सर्वौ।। 212।।
अम्हारिसा कहं पुण, न सहंति विसोहियव्वघणकम्मा।
इय भावंतो सम्मं, उवसग्गपरीसहे सहउ।। 213।।
अस्मादृशाः कथं पुनः, न सहन्ते विशोधितव्यं घनकर्माणः।
इति भावयन्तः सम्यक् उपसर्गपरिषहौ सहस्व।। 213।।

भगवान् महावीर लघुकर्मी, चरम शरीरी, अनंतवीर्य से युक्त, देवताओं द्वारा वन्दनीय सर्व उपाय विधि के ज्ञाता, तीन लोकों के गुरु थे। उन्होंने गौशालक आदि के द्वारा किये गये सभी प्रकार के उपसर्गों एवं परिषहों को समभाव पूर्वक सहन किया था। जब भगवान महावीर भी अधम एवं दुष्ट व्यक्तियों के उपसर्ग एवं परिषहों को समभाव पूर्वक सहन कर लेते थे तो हमारे जैसे साधुओं को उन्हें सहन क्यों नहीं करना चाहिये ? अर्थात् हमें भी उपसर्ग और परिषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं हि कम्मवसओ, अरई चरणम्मि होज्ज जइ कहवि।
तो भावणाए सम्मं, इमाए सिग्घं नियत्तेज्जा।। 214।।
एवं अपि कर्मवशतः अरतिः चरणे भवेत् यदि कथमपि।
ततः भावनया सम्यक् अनया शीघ्रं निवर्तयेत्।। 214।।

इसी प्रकार यदि साधु को पूर्वबद्ध कर्मवश चारित्र में किसी तरह अरूचि हो जाय तो समभाव पूर्वक शीघ्र ही उसका निवारण कर लेना चाहिये।

सयलदुहाणावासो, गिहवासो तत्थ जीव! मा रमसु।
जं दूसमाए गिहिणो, उयरंपि दुहेण पूरंति।। 215।।
सकलदुःखानामावासः, गृहवासः तत्र जीव! मा रमस्व।
यस्मात् दूष्माकाले गृहिणः उदरमपि दुःखेन पूरयन्ति।। 215।।

हे आत्मन्! सभी दुःखों के निवास स्थान रूप इस गृहवास में रमण मत कर। क्योंकि इस दुषम काल में गृहस्थों की उदर पूर्ति भी बड़े कष्ट से होती है।

जललवतरलं जीयं, अथिरा लच्छी वि भंगुरो देहो।
तुच्छ य कामभोगा निबंधणं दुक्खलक्खाणं।। 216।।
जललवतरलं जीवं, अस्थिरा लक्ष्मी अपि भङ्गुरःदेहः।
तुच्छाः च कामभोगाः, निबंधनं दुःखलक्षाणाम्।। 216।।

जीवन घास के अग्रभाग पर रहे हुए ओसबिन्दु सम नश्वर है, ऐश्वर्य (लक्ष्मी) भी स्थिर नहीं है तथा शरीर भी क्षण भङ्गुर है, उसी प्रकार काम भोगादि भी निस्सार है, ये सभी अनेक दुःखों के मूल हेतु है।

को चक्कवट्टिरिद्धिं, चइउं दासत्तणं समभिलसइ ?।
को वररयणाइं मोत्तुं, परिगिण्हइ ? उवलखंडाइं।। 217।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कः चक्रवर्तिसमृद्धिं, त्यक्त्वा दासत्त्वं समभिलषति।
को वा वररत्नानि मुक्त्वा परिगृण्हाति उपलखण्डानि।। 217।।

ऐसा कौन होगा जो चक्रवर्ती साम्राज्य का त्याग करके दासत्व को स्वीकार करेगा ? अथवा ऐसा कौन होगा जो श्रेष्ठ रत्नों का त्याग करके पत्थर के कंकरों का परिग्रहण करना चाहेगा ?

नेरइयाण वि दुक्खं, झिज्झइ कालेण किं पुण नराणं ?।
ता न चिरं तुह होहि, दुक्खमिणं मा समुव्वियसु।। 218।।
नारकाणामपि दुःखं क्षीयते कालेन किं पुनर्नराणाम्।
तस्मात् न चिरं तव दुखं भवति, दुःखमिदं मा समनुद्विजस्व।। 218।।

नारकीय जीवों का वह दुःख भी समय बीतने पर समाप्त हो जाता है तो स्वल्पआयु वाले मनुष्यों का कष्ट या दुःख क्यों नष्ट नहीं हो सकता है ? अतएव तुम्हारा यह भी दुःख चिरकाल तक रहने वाला नहीं है। अतः व्याकुलता का परित्याग कर दो।

इय भावंतो सम्मं, खंतो दंतो जिइंदिओ होउं।
हत्थित्व अंकुसेणं, मग्गम्मि ठवेसु नियचित्तं।। 219।।
इति भावयन् सम्यक्, क्षान्तः दान्तः जितेन्द्रियश्च भूत्वा।
हस्तिनं इव अंकुशेन, मार्गे स्थापय निजचित्तं।। 219।।

इस प्रकार समभाव पूर्वक शांत, दांत और जितेन्द्रिय होकर मोक्ष मार्ग में या संयम मार्ग में अपने चित्त को उसी प्रकार स्थापित करो जिस प्रकार महावत अंकुश से मदोन्मत्त हाथी को भी वश में कर लेता है।

जम्हा न कज्जसिद्धी, जीवाण मणम्मि अट्ठिए ठाणे।
एत्थ पुण आहरणं, पसन्नचंदाइणो भणिया।। 220।।
यस्मात् न कार्यसिद्धिः, जीवानां मनसि अस्थिते सति।
अत्र पुनः उदाहरणं प्रसन्नचन्द्रादयः भणिता।। 220।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार इच्छित वस्तु में मन लगाने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं हो जाती है, उस हेतु प्रयत्न करना होता है उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति रूपी कार्य की सिद्धि भी बिना पुरुषार्थ के नहीं होती है उस हेतु मनोनिग्रह करना होता है। प्रसन्नचन्द्रादि के आख्यानों से इस तथ्य को समझा जा सकता है।

अहरगइपट्ठियाणं, किलिट्ठचित्ताण नियडिबहुलाणं।
सितुंडमुंडणेणं, न वेसमेत्तेण साहारो।। 221।।
अधरगतिप्रस्थितानां क्लिष्टचित्तानां निकृतिबहुलानाम्।
शिरस्तुण्डमुण्डनेन, न वेषमात्रेण साधारः।। 221।।

मस्तक मुण्डन करा लेने से अथवा वेश धारण कर लेने मात्र से साधुत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि मिथ्यादृष्टि द्वारा किया गया यह प्रदर्शन उन्हें अधोगति की ओर ले जाने वाला ही होता हैं।

वेलंबगाइएसु वि, दीसइ लिंगं न कज्जसंसिद्धी।
पत्ताइं च भवोहे, अणंतसो दव्वलिंगाई।। 222।।
विडम्बकादिकेषु अपि दृश्यते लिङ्गं न कार्यसंसिद्धिः।
प्राप्तानि च भवोघे, अनन्तशः द्रव्य–लिङ्गानि।। 222।।

विदूषक के समान मात्र बाह्य रूप से यतिवेष धारण करने वाले साधुओं के पास रजोहरणादि मुनि के बाह्य चिह्न (लक्षण) अवश्य दिखाई देते हैं, लेकिन उनसे कार्य की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि इस जीव ने संसार मे भव भ्रमण करते हुए अनन्त बार इन लिङ्गों अर्थात् मुनिवेश को धारण किया है परन्तु मोक्ष रूपी साध्य की सिद्धि नहीं हो सकी।

तम्हा परिणामो च्चिय, साहइ कज्जं विणिच्छओ एसो।
ववहारनयमएणं, लिंगग्गहणं पि निद्दिट्ठं।। 223।।
तस्मात् परिणामः एव साधयति कार्यं विनिश्चयः एषः।
व्यवहारनयमतेन, लिङ्गग्रहणं अपि निर्दिष्टं।। 223।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिये शुभ परिणाम ही मोक्ष रूपी साध्य की सिद्धि कर सकते है। यही निश्चय नय का कथन है। जिनेश्वर भगवान् द्वारा व्यवहारनय से ही लिङ्ग ग्रहण (बाह्य वेष ग्रहण) का निर्देश दिया गया है।

जइ जिणमयं पवज्जह, ता मा ववहारनिच्छए मुयह।
ववहारनउच्छेए, तित्थुच्छेओ जओ भणिओ।। 224।।
यदि जिनमतं प्रपद्यध्वं, तदा मा व्यवहार निश्चयौ मुंचथ।
व्यवहार–नयोच्छेदे तीर्थोच्छेदः यतः भणितः।। 224।।

यद्यपि जिन मत में साध्य को प्राप्त करने हेतु निश्चयनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यवहारनय का परित्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि व्यवहार नय का परित्याग करने पर जिन–अर्चाचैत्यवन्दन, जिनपूजादि सभी कार्य करणीय नहीं रह जायेंगे, जिससे तीर्थोच्छेद की सम्भावना उत्पन्न हो जायेगी।

ववहारो वि हु बलवं, जं वंदइ केवली वि छउमत्थं।
आहाकम्मं भुंजइ, सुयववहारं पमाणंतो।। 225।।
व्यवहारोऽपि खलु बलवान्, यत् वंदते केवलोऽपि छद्मस्थं।
आधाकर्म भुङ्क्ते, श्रुतव्यवहार प्रमाणयन्।। 225।।

व्यवहारनय भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। यही कारण है कि केवलज्ञानी भी छद्मस्थ गुरु को वन्दन करते हैं। ये छद्मस्थ होने के कारण उनके द्वारा आधा कर्म आहार का सेवन भी हो जाता है। श्रुत व्यवहार की अपेक्षा से वे केवली के द्वारा भी वन्दनीय होते हैं। इससे व्यवहारनय का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

तित्थयरुद्देसेण वि, सिढिलिज्ज न संजमं सुगइमूलं।
तित्थयरेण वि जम्हा, समयम्मि इमं विणिद्दिट्ठं।। 226।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थकरोद्देशेनापि, शिथिलियेत् न संयमं सुगतिमूलं।
तीर्थकरेणापि यस्मात्, समये इदं विनिर्दिष्टं।। 226।।

तीर्थकरों की पूजा आदि की प्रवृत्ति सुगति हेतु है, फिर भी साधु संयम में शिथिलन बने, इस हेतु उसे तीर्थंकरों की पुष्पादि से पूजा की अनुमति नही दी गई, गृहस्थों के लिये तीर्थंकरों द्वारा सिद्धान्त ग्रन्थों में इसका निर्देश किया गया है।

चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयणसुए य।
सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजमउज्जमंतेण।। 227।।
चैत्यकुलगणसंघे, आचार्याणां च प्रवचनश्रुते च।
सर्वेषु अपि तेन कृतं, तपसंयमोद्यमान्तेन।। 227।।

जिनायतन (चैत्य) मुनि, कुल, गण, संघ के हेतु आचार्यों के द्वारा जिन प्रवचन रूप आगम सूत्रों में जो कुछ भी विधान किया गया है, वह सभी तप एवं संयम के लिए किया गया है।

सव्वरयणमएहिं, विभूसियं जिणहरेहिं महिवलयं।
जो कारिज्ज समग्गं, तओ वि चरणं महिड्ढियं।। 228।।
सर्वरत्नमयैः विभूषितं जिनगृहै महीतलं।
यः कारयेत् समग्रं ततोऽपिचरणं महर्द्धिकं।। 228।।

चाहे व्यक्ति सम्पूर्ण भूमण्डल को रत्न जटित जिन चैत्यों से अलंकृत कर दे, फिर भी उसकी अपेक्षा संयम अर्थात् मुनि जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण एवं महान ऋद्धि प्रदाता है।

दव्वत्थओ य भाव–त्थओ य बहुगुणोत्ति बुद्धि सिया।
अनिउणवयणमिणं, छज्जीवहियं जिणा बिंति।। 229।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यस्तवः च भावस्तवः च बहुगुणौ इति बुद्धिः स्यात्।
अनिपुणमतिवचनमिदं षड्जीवहितं जिना ब्रुवते।। 229।।

द्रव्यस्तव तथा भावस्तव इन दोनों में अन्योन्य अपेक्षा से द्रव्यस्तव अधिक गुणवाला है। जिस प्रकार किसी की ऐसी बुद्धि हो तो उसकी यह बुद्धि (विचार) असमीचीन है क्योंकि जिनेश्वर परमात्मा ने इसे षड्जीवनिकाय के हित के लिये कहा है।

छज्जीवकायसंजमो, दव्वत्थए सो विरुज्झए कसिणो।
ता कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईणं न इच्छंति।। 230।।
षड्जीवकायसंयमः, द्रव्यस्तवे सः विरूध्यते कृत्स्नः।
तत् कृत्स्नसंयमित्वा, पुष्पादीन् न इच्छन्ति।। 230।।

षड्जीव निकाय के रक्षक मुनि संयम के विरुद्ध पुष्पाद्यारम्भ रूप इस द्रव्यस्तव की इच्छा भी नहीं करते हैं।

अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवादिट्ठंतो।। 231।।
अकृत्स्नप्रवर्तकानां, विरताविरतानां एषः खलु युक्तः।
संसारप्रतानुकरणे, द्रव्यस्तवे कूपदृष्टान्तः।। 231।।

देश विरति रूप असम्पूर्ण संयम या देश संयमी गृहस्थों के लिये ही यह द्रव्यस्तव उपयुक्त माना गया है, क्योंकि यह उनके संसार को अल्प करने का हेतु है। इसके समर्थन में भगवान् अर्हत् ने कूप खनन का दृष्टान्त दिया है।

तो आणावज्झेसु, अविसुद्धालंबणेसु न रमेज्जा।
नाणाइवुड्ढिजणयं, तं पुण गेज्झं जिणाणाए।। 232।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मात् आज्ञाबाह्येषु, अविशुद्धालम्बनेषु न रमेत।
ज्ञानादिवृद्दिजनकं, तत् पुनः ग्राह्यम् जिनाज्ञया।। 232।।

इसलिये साधु अपनी बुद्धि से जिनाज्ञा विरुद्ध अविशुद्ध आलम्बनों में रमण न करें। ज्ञान आदि में वृद्धि जनक उन आलम्बनों को भी पुनः जिनेश्वर भगवान द्वारा कथित विधि से ही ग्रहण करें।

काहं अछित्तिं अदुवा अहीहं, तवोविहाणेण य उज्जमिस्सं।
गच्छं च नीईए (नई अइ?) सारइस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं।। 233।।
करिष्यामि अव्यवच्छित्तिं अथवा अध्येष्ये तपो विधानेन च उद्यमिष्ये।
गच्छं च नीत्या सारयिष्यामि, सालम्ब-सेवी समुपैति मोक्षं।। 233।।

क्या मैं विधिपूर्वक तप साधना के द्वारा अध्ययन हेतु प्रयत्न करुं या फिर तीर्थ उच्छेद का दोषी बनूं ? मेरे लिये तीर्थ उच्छेद का भागीदार बनना तो उचित नहीं है। अतः आलम्बन आदि का सहयोग लेकर गच्छ की नीति के अनुसार तप करते हुये अध्ययन के लिये ही प्रयत्न करूँगा, क्योंकि जो जिनाज्ञा का उल्लंघन किये बिना आलम्बनों का सहयोग लेता है वह मोक्ष को ही प्राप्त करता है।

सालंबणो पडंतो, अप्पाणं दुग्गमे वि धारेइ।
इय सालंबणसेवा, धारेइ जइं असढभावं।। 234।।
सालम्बनः पतन्तं, आत्मानम् दुर्गमेऽपि धारयति।
इति सालम्बन सेवा, धारयति यति अशठभावं।। 234।।

ज्ञानादि रूप परिपुष्ट आलंबन से युक्त साधु अपनी आत्मा को गिरने से बचा लेता है। पुनः इस ज्ञानालम्बन से युक्त यति निष्कपट भाव को धारण करता है।

उस्सेग्गेण निसिद्धं, अववायपयं निसेवए असढो।
अप्पेण बहुं इच्छइ, विशुद्धमालंबणो समणो।। 235।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्सर्गेण निषिद्धं, अपवादपदं निषेवते अशठः।
अल्पेन बहु इच्छति, विशुद्धालम्बनः श्रमणः।। 235।।

जिस परिस्थिति में आगम में उत्सर्ग मार्ग अर्थात् सामान्य विधि का निषेध किया गया है, उस समय यदि यति निष्कपट भाव से अपवाद मार्ग का अर्थात् उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा अनेषणीय, स्थान का भी सेवन करता है, तो भी वह विशुद्धालम्बन युक्त श्रमण संयम में आंशिक स्खलना करके भी अधिक संयम के लाभ की ही इच्छा करता है।

पडिसिद्धं पि कुणंतो, आणाए दव्वखित्तकालन्नु।
सुज्झइ विसुद्धभावो, कालयसूरिव्व जं भणियं।। 236।।
प्रतिषिद्धं अपि कुर्वन, आज्ञया द्रव्यक्षेत्रकालज्ञः।
शुध्यति विशुद्धभावः कालकसूरि इव यत् भणितं।। 236।।

देश, काल एवं परिस्थिति वश मुनि सामान्यतया जिनाज्ञा द्वारा निषिद्ध का सेवन करता हुआ भी विशुद्ध भाव होने से अपनी आत्मा को परिशुद्ध ही करता है। इस सम्बन्ध में कालकाचार्य, जो द्रव्य, क्षेत्र कालज्ञ थे और जिनाज्ञा के ज्ञाता थे, उनका उदाहरण द्रष्टव्य है।

जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स।
सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स।। 237।।
या यतमानस्य भवेत् विराधना सूत्रविधिसमग्रस्य।
सा भवति निर्जरफला, अध्यात्मविशोधियुक्तस्य।। 237।।

यतनावान् अर्थात् अप्रमत या सजग आगम विधि के ज्ञाता गीतार्थ मुनि द्वारा जो यत्किंचित् विराधना होती है उससे वह आत्म–विशुद्धि में तत्पर होकर अशुभ कर्मों की निर्जरा ही करता है।

जे जत्तिया य हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिया मुक्खे।
गणणाईया लोगा, दोण्ह वि तुण्णा भवे तुल्ला।। 238।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये यावन्मात्रा च हेतु (हेतवः), भवस्य ते चैव तावता मोक्षे।
गणनादिका लोकाः द्वयोः अपि भवेत् (पूर्णौ) तुल्यौ।। 238।।

राग–द्वेष की उपस्थिति में जो क्रियायें संसार का हेतु बनती हैं वे क्रियायें राग आदि से रहित व्यक्तियों के लिये मुक्ति का हेतु बन जाती हैं। आत्म प्रदेश और लोकाकाश के प्रदेश दोनों ही पूर्ण और समतुल्य होते हैं, किन्तु आत्म प्रदेशों का आकाश प्रदेशों के साथ भोग दशा में जो योग होता है वह संसार का कारण होता है और आत्म प्रदेशों का केवलि समुद्घात की अपेक्षा से जो संयोग मिलता है वह निर्जरा का हेतु बनता है। दूसरे शब्दों में भोग की अपेक्षा से भी जीव लोकाकाश के आत्म प्रदेशों को पूर्ण करता है और निर्जरा के लिये जीव आकाश प्रदेश को पूर्ण करता है। दोनों क्रियायें एक रूप होकर भी दोनों के परिणाम भिन्न–भिन्न है। उसी प्रकार से सराग व्यक्ति की एवं वीतराग व्यक्ति की क्रियायें समान होने पर भी एक संसार का हेतु बनती है और एक मोक्ष का हेतु बनती है।

इरियावहियाईया, जे चेव हवंति कम्मबंधाय।
अजयाणं ते चेव उ, जयाण निव्वाणगमणाय।। 239।।
ईर्यापथिकादिका, ये चैव भवन्ति कर्मबन्धाय।
अयतानां ते चैव तु, यतानां निर्वाणगमनाय।। 239।।

राग द्वेष युक्त अज्ञानी और हिंसादि से अविरत व्यक्ति की ईयापथिक क्रियाऐं कर्म बन्धन का कारण होती है, संसार परिभ्रमण का हेतु होती है। परन्तु संयमी के लिये वे ही क्रियाएँ निर्वाण–गमन का निमित्त बन जाती है जैसे एक–दो आदि की गणना के अतिक्रान्त होने पर वही पूर्ण हो जाती है।

एगंतेण निसेहो, जोगेसु न देसिओ विही वावि।
दलियं पप्प निसेहो, होज्ज विही वावि जह रोगे।। 240।।
एकान्तेन निषेधः, योगेषु न देशतः विधिर्वापि।
दलिकं प्राप्य निषेधः भवेत् विधिर्वापि यथारोगे।। 240।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग साधना में किसी क्रिया का एकान्तिक दृष्टि से विधान या निषेध नहीं किया है किन्तु व्यक्ति की परिस्थिति के आधार पर ही विधि–निषेध होता है। जैसे– वैद्य रोग के लक्षण देखकर ही उपचार करता है अर्थात् पथ्य–अपथ्य का निर्देशन करता है।

अणुमित्तोवि न कस्सइ, बंधो परवत्थुपच्चयो भणिओ।
तह वि य जयंति जइणो, परिणामविसोहिमिच्छंता।। 241।।
अणुमात्रोऽपि न कस्यचित्, बन्धः परवस्तु प्रत्ययः भणितः।
तथापि च यतन्ते यतिनः परिणाम–विशोधिमिच्छन्ताः।। 241।।

पर वस्तु को अंशमात्र भी बन्ध का और मोक्ष का कारण नहीं कहा गया है। बन्ध और मोक्ष का मूल हेतु परिणाम (मनोभाव) है फिर भी परिणाम की विशुद्धता की इच्छा वाले मुनि को प्राणातिपात के वर्जन हेतु सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

जो पुण हिंसाययणे–सु वट्टई तस्स नणु परिणामो।
दुट्ठो न य तं लिंगं, होइ वियुद्धस्स जोगस्स।। 242।।
यः पुनः हिंसायतनेषु, वर्तते तस्य ननु परिणामः।
दुष्टं न च तत् लिङ्गं, भवति विशुद्धस्य योगस्य।। 242।।

रागादि से दूषित मन वाला मुनि अज्ञान वश हिंसा आदि स्थानों में रत रहता है तो उसका परिणाम भी दुष्ट ही होगा और वह परिणाम, विशुद्ध योग का लक्षण नहीं होगा।

पडिसेहो य अणुन्ना, एगंतेण न वन्निया समए।
एसा जिणाण आणा, कज्जे सच्चेण होयव्वं।। 243।।
प्रतिषेधः च अनुज्ञा, एकान्तेन न वर्णिता समये (सिद्धान्ते)।
एषा जिनानां आज्ञा, कार्ये सत्येन भवितव्यं।। 243।।

सिद्धान्त, ग्रन्थों (आगमों) में ऐकान्तिक दृष्टिसे प्रतिषेध एवं अनुज्ञा वर्णित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है परन्तु जिनेश्वरों की यह आज्ञा है कि एषणा आदि की शुद्धि में मुनि को माया, कपट रहित होना चाहिये।

दोसा जेण निरुब्भंति, जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं।
सो सो मुक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं व।। 244।।
दोषाः येन निरूध्यन्ते, येन क्षीयन्ते पूर्वकर्माणि।
सः सः मोक्षोपायः, रोगावस्थासुशमनं तदेव।। 244।।

जिनके द्वारा दोषों का निरोध (अवरोध) हो एवं पूर्वभव में अर्जित कर्मों का क्षय हो उन क्रियाओं को मोक्ष मार्ग अर्थात् मोक्ष साधना का उपाय माना गया है। जैसे जिससे रोगादि का शमन हो, वही औषध है।

बहुवित्थरमुस्स गं–बहुयरमववायवित्थरं नाउं।
जेण न संजमहाणी, तह जयसू निज्जरा जह य।। 245।।
बहुविस्तरमुत्सर्गं, बहुतरमपवादविस्तारं ज्ञात्वा।
येन न संयमहानि, तथा यतत्व निर्जरा तथा च।। 245।।

उत्सर्ग का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है, किन्तु अपवाद का क्षेत्र उससे भी अधिक व्यापक है, ऐसा जानकर जिससे संयम की न हानि हो और कर्म निर्जरा भी हो, मुनि को वैसा प्रयत्न करना चाहिये।

सामन्नेणुस्सग्गो, विसेसओ जो स होइ अववाओ।
ताणं पुण वावारे, एस विही वण्णिओ सुत्ते।। 246।।
सामान्येनोत्सर्गः, विशेषतः यः स भवति अपवादः।
तयोः पुनः व्यापारे, एषः विधिः वर्णितः सूत्रे।। 246।।

सामान्य रूप से कही गयी विधि को उत्सर्ग कहते हैं तथा विशेष रूप से वर्णित अर्थात् परिस्थिति विशेष में आचरणीय विधि को अपवाद कहते हैं। इन्हीं दोनों अर्थात् उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के आचरण के विषय में विधि निषेध का वर्णन आगमों में किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस्सग्गे अववायं, आयरमाणो विराहओ होइ।
अववाए पुण पत्ते, उस्सग्गनिसेवओ भईओ।। 247।।
उत्सर्गे अपवादं आचरमाणः विराधकः भवति।
अपवादे पुनः प्राप्ते, उत्सर्गनिषेवकः भजनीयः।। 247।।

उत्सर्ग मे अर्थात् सामान्य परिस्थिति में अपवाद का आचरण करने वाला निश्चय ही विराधक होता है। किन्तु अपवाद योग्य विशेष परिस्थिति में भी उत्सर्ग सेवन करने वाला कोई–कोई मुनि शुद्ध होता है एवं कोई–कोई मुनि शुद्ध नहीं भी होता है अर्थात् इसमें विकल्प (भजना) है।

किह होइ भइयव्वो ?, संघयणधिईजुओ समत्थो य।
एरिसओ अववाए, उस्सग्गनिसेवओ सुद्धो।। 248।।
कथं भवति भजनीयः ? संहननधृति–संयुक्तः समर्थो च।
इदृशः अपवादे, उत्सर्ग–निषेवमाणः शुद्धः (एव)।। 248।।

इस सम्बन्ध में शुद्धता का निर्णय कैसे किया जाये ? शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया है कि संहनन एवं धैर्य युक्त मुनि अपवाद में भी उत्सर्ग का सेवन करता हुआ शुद्ध होता है।

इयरो उ विराहेई, असमत्थो जं परीसहे सहिउं।
धिइसंघयणेहिंतो, एगयरेणं व सो हीणो।। 249।।
इतरो तु विराधयति, असमर्थः यत् परिषहान् सोढुं।
धृतिसंहननाभ्यां, एकतरेण वा सः हीनः।। 249।।

इसके विपरीत संहनन एवं धृति हीन मुनि जो परिषहों को सहन करने में असमर्थ है, वह अपवाद योग्य परिस्थिति में भी उत्सर्ग के सेवन का दम्भ करने पर शिथिल परिणामों के कारण संयम की विराधना ही करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गंभीर जिणवयणं, दुव्विन्नेयं अनिउणबुद्धीहिं।
तो मज्झत्थेहिं इमं, विभावणीयं पयत्तेणं।। 250।।
गम्भीरं जिनवचनं, दुर्विज्ञेयं अनिपुणबुद्धिभिः।
तस्मात् मध्यस्थैः एतद् विभावनीयं प्रयत्नेन।। 250।।

जिन वचन अत्यन्त गम्भीर अर्थ वाले हैं। वे अनिपुण–बुद्धि–वालों द्वारा अविज्ञेय कहे गये हैं, इसलिये मध्यस्थ होकर अपने चित्त को दूषित न करते हुये जिनवाणी का प्रयत्न पूर्वक विचार करना चाहिये।

उस्सग्गऽववायविऊ, गीयत्थो निस्सिओ य तो तस्स।
अनिगूहंतो विरियं, असढो सव्वत्थ चारित्ती।। 251।।
उत्सर्गापवादवेत्ता, गीतार्थः निश्रितः च यः तस्य।
अनिगूहयन् वीर्यं, अशठः सर्वत्र चारित्री।। 251।।

जो स्वयं ही उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग का सम्यक् ज्ञाता है ऐसे गीतार्थ का विनीत शिष्य आदि अपनी शक्ति के अनुसार तप, संयम आदि सभी करणीय कार्यों का निर्वाह, यदि अमायावी बन कर प्रयत्न पूर्वक करता है, तो उसे चारित्रवान् ही कहा जाता है।

रागाइ दोसरहिओ, मयणमयट्ठाणमच्छरविमुक्को।
जं लहइ सुहं साहू, चिंताविसवेयणारहिओ।। 252।।
रागादिदोषरहितः मदनमदस्थानमत्सरविमुक्तः।
यत् लभते सुखं साधु, चिन्ताविषवेदना रहितः।। 252।।

रागादि दोषों से रहित, काम–क्रोध अहंकार एवं मात्सर्य भाव से रहित और चिन्ता–रूपी विष की वेदना से रहित जो साधु है वह शाश्वत् सुख को प्राप्त करता है।

तं चिंतासयसल्लिय–हियएहिं कसायकामनडिएहिं।
कह उवमिज्जइलोए, सुरवरपहुचक्कवट्टी हिं।। 253।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत् चिंताशतशल्यित हृदयैः कषायकामाविडम्बितैः।
कथं उपमीयते लोके, सुरवरप्रभुचक्रवर्तिभिः।। 253।।

चिन्ता–रूपी अनेक शल्यों से युक्त तथा काम क्रोधादि कषायों से युक्त, देवों, इन्द्रों और चक्रवर्ती राजाओं के सुख की तुलना मोक्षमार्ग सुख के साथ कैसे की जा सकती है ?

जं लहइ वीयराओ, सुक्खं तं मुणइ सुच्विय न अन्नो।
नहि गत्तासूयरओ, जाणइ सुरलोइय सुक्खं।। 254।।
यः लभते वीतरागः, सुखं तद् मुनयः न अन्यः।
न हि गर्ताशूकर इव, जानाति सुरलौकिकं सुखं।। 254।।

राग–द्वेषादि से मुक्त होने पर ही मुनि वीतरागता प्राप्त करके प्रशम –सुख को प्राप्त करता है, परन्तु राग–द्वेष से युक्त मुनि, जिसे प्रशम सुख की लेशमात्र भी अनुभूति नहीं है, ऐसा मुनि सुरलोक के सुखों से भी वंचित रहता है तथा ऐहिक अपवित्र विषय सुखों में डूबा हुआ, वह मुनि गड्ढे में गिरे हुए शूकर के समान दुःखी होता है।

इय सुहफलयं चरणं, जायइ एत्थेव तग्गयमणाणं।
परलोकफलाइं पुण, सुरनरवरसिद्धिसोक्खाइं।। 255।।
इति सुखफलदं चरितं, जायते अत्रैव तद्गतमनोनां।
परलोकफलानि पुनः सुरनरवरसिद्धिसौख्यानि।। 255।।

जिनका चित्त चारित्र में रमण करता है, वे इस लोक में भी प्रशम सुख को प्राप्त करते हैं तथा परम्परा से अन्त में मोक्ष–सुख को प्राप्त करते हैं।

अव्वत्तेण वि सामाइएण तह एगदिण पवन्नेणं।
संपइराया रिद्धिं, पत्तो किं पुण समग्गेणं ?।। 256।।
अव्यक्तेन अपि सामायिकेन तथा एकदिनप्रपन्नेन।
सम्प्रतिराजः ऋद्धिं प्राप्तः किं पुनः समग्रेण ?।। 256।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक दिवस की सम्यक् चारित्र की साधना से भी सम्प्रति राजा के समान राज्यादि एवं ऐश्वर्यादि की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर पूर्ण रूप से यावज्जीवन सामायिकादि चारित्र के पालन से क्या मोक्ष रूपी अनन्त सुख की उपलब्धि नहीं होगी ? अर्थात् अवश्य प्राप्त होगी।

इति पुष्पमाला विवरणे भावना द्वारे चरणशुद्धिरुपं

(6) करण (इन्द्रिय) जय द्वारम्

अजिइंदिएहिं चरणं, कट्ठं व घुणेहिं कीरइ असारं।
तो चरणऽत्थीहिं, दढं जयव्वं इंदियजयम्मि।। 257।।
अजितेन्द्रियैः चरणं, काष्ठं घुनैः क्रियते असारं।
ततः चरणार्थिभिः, दृढं यतितव्यं इन्द्रियजये।। 257।।

जिस प्रकार लकड़ी का कीड़ा लकड़ी के सारतत्व का ही भक्षण करता है उसी प्रकार इन्द्रियों का निग्रह नहीं करने वाला श्रमण भी तप संयमादि मुनि–जीवन के सारतत्वों का भक्षण करने से असार ही हो जाता है। अतएव सम्यक्–चारित्र की स्थिरता को चाहने वाले मुनि को इन्द्रिय–जय हेतु दृढ़ इच्छा शक्ति से युक्त होना चाहिये।

भे ओ सामित्तं चिय, संठाण पमाण तह य विसओ य।
इंदियगिद्धाण तंहा, होइ विवागो य भणियव्वो।। 258।।
भेदः स्वामित्वं चैव संस्थानं प्रमाणं तथा च विषयः।
इन्द्रिय गृद्दानां तथा भवति विपाकः च भणितव्यः।। 258।।

यहाँ ग्रन्थकार कहते हैं कि अब मैं अग्रिम गाथाओं में इन्द्रियों के भेद, स्वामित्व, संस्थान, प्रमाण तथा विषयादि के लोलुप प्राणियों को प्राप्त होने वाले दुःखों का वर्णन करूंगा।

पंचेव इंदियाइं, लोयपसिद्धाइं सोयमाईणि।
दव्विंदियभाविंदिय–भेयविभिन्नं पुणिक्किक्कं।। 259।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचेव इन्द्रियाणि, लोकप्रसिद्दानि श्रौतृमादीनि।
द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय–भेदविभिन्नं पुनरेकैकं।। 259।।

श्रोत्रादि पांच इन्द्रियां लोक प्रसिद्ध है। द्रव्येन्द्रिय तथा भावेन्द्रिय भेद से प्रत्येक के दो–दो भेद होते हैं।

अतो बहिनिव्वता, तंसत्तिसरूवयं च उवगरणं।
दव्विंदियमियरं पुण, लद्धुवओगेहिं नायव्वं।। 260।।
अतः वहिनिवृत्ताः तत् शक्तिस्वरूपकं च उपकरणं।
द्रव्येन्द्रियमितरं पुनः लब्ध्युपयोगाभ्यां ज्ञातव्यं।। 260।।

बाह्य द्रव्येन्द्रिय को निवृत्ति और आन्तरिक द्रव्येन्द्रिय को उपकरण कहते हैं। इसी प्रकार भावेन्द्रिय के भी लब्धि एवं उपयोग ऐसे दो भेद जानना चाहिये।

पुढविजलअग्गिवाया, रुक्खा एगिंदिया विणिद्दिट्ठा।
किमिसंखजलूगालस–माइवहाई य बेइंदी।। 261।।
कुंथुपिलीलियापिसुया, जूया उद्देहिया य तेइंदी।
विच्छुयममरपयंगा, मच्छियमसगाइ चउरिंदी।। 262।।
मूसयसप्पगिलाइय–बभणिया सरडपक्खिणो मच्छा।
गोमहिस ससय सूअर–हरिणमणुस्सा य पंचिंदी।। 263।।
पृथ्वी जलाग्निवाता, वृक्षा एकेन्द्रियाः विनिर्दिष्टाः।
क्रमिशंखजलूकालसमादिवहाई च द्वि–इन्द्रियाः।। 261।।
कुंथुपिपीलिकापिकशुका, यूका उद्देशीताः च त्रिइन्द्रियाः।
वृश्चिकभ्रमरपतंगा, मच्छरमशकादि चतुरिन्द्रियाः।। 262।।
मूषकसर्पगिलहरी चावभणिता सरउपक्षिणः मक्षाः।
गोमहिषशशकसूकरहरिण मनुष्याः च पंचेन्द्रियाः।। 263।।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव एकेन्द्रिय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। कृमि, शंख जलौक, अलसिया आदि द्वीन्द्रिय है। कुंथु, चींटी, पिस्सु, दीमक, जूं आदि त्रीन्द्रिय है। बिच्छु, भ्रमर, पतंगा, मक्खी, मच्छर आदि चतुरीन्द्रिय है। चूहा, सर्प, गिलहरी, बांभणी (सर्पजाति का विशेष जन्तु) सरायु पक्षी, मछली, गाय, भैंस, खरगोश, शूकर, हरिण और मनुष्य ये सभी पंचेन्द्रिय हैं।

कायंबपुप्फगोलय–मसूरअईमुत्तयरस पुप्फं व।
सोयं चक्खुं घाणं, खुरप्पपरिसंठियं रसणं।। 264।।
कदम्बपुष्प--गोलक मसूर अतिमुक्तकस्य पुष्पं च।
श्रौतृं चक्षु घ्राणं, क्षुरप्रप्रहरण परिसंस्थितं रसनं।। 264।।

कान का संस्थान कदम्ब पुष्प के गोलक के समान है, ऑखका संस्थान मसूर के समान है, नासिका का आकार अति–मुक्तक के समान है और जिव्हा (जीभ) का आकार खुरपे के समान है। अर्थात् लम्बाई चौड़ाई।

बाहल्लओ य सव्वाइं। अंगुलअसंखभागं, एमेव पुहुत्तओ नवरं।। 265।।
अंगुल पुहुत्तरसणं, फरिंस तु सरीरवित्थडं भणियं
बारसहिं जोयणेहिं, सोयं परिगिण्हिए सद्दं।। 266।।
बाहुल्यतः च सर्वाणि।
अगुंल असंख्यभागं, एतदेव पृथुलतया न वरं।। 265।।
अंगुल पृथुतररसनं, स्फरितं तु शरीरविस्तृतं भणितं।
द्वादश योजनैः श्रौतृं परिगृहणाति शब्दं।। 266।।

बाहुल्य की अपेक्षा से इन श्रोत्रादि प्रत्येक इन्द्रिय का आकार जघन्यतः अंगुल का असंख्यातवां भाग परिमाण है तथा पृथुत्व की अर्थात् मोटाई की अपेक्षा से भी इतना ही परिमाण है। उत्कृष्टतः रसनेन्द्रिय की मोटाई अंगुल पृथक्त्व भी है।

रूवं गिण्हइ चक्खुं, जोयणलक्खाउ साइरेगाउं।
गन्धं रसं च फासं, जोयणनवगाउ सेसाइं।। 267।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपं गृह्णाति चक्षुः, योजनलक्षात् सतिरेकात्।
गन्धं रसं च स्पर्शं, योजननवकात् शेषानि।। 267।।

चक्षुः इन्द्रिय अधिकतम लक्ष योजन तक का रूप ग्रहण कर सकती है। शेष घ्राण, रसन एवं स्पर्शनेन्द्रिय क्रमशः उत्कृष्टतया नौ योजन तक से आये हुये गन्ध को, रस को, शीतादि स्पर्श को ग्रहण करती हैं।

अंगुलअसंखभागा, मुणंति विसयं जहन्नओ मोत्तं।
चक्खुं तं पुण जाणइ, अंगुलसंखेज्जभागाओ।। 268।।
अंगुल असंख्य भागा, गृण्हन्ति विषयं जघन्यतः मुक्त्वा।
चक्षुः तद् पुनः जानाति अंगुलसंख्येय भागयोः।। 268।।

नेत्र को छोड़कर शेष सर्व इन्द्रियाँ जघन्य से अंगुल के असंख्यात भाग में स्थित अपने–अपने स्व विषय को ग्रहण करती है, किन्तु चक्षु तो अंगुल के संख्यात भाग में स्थित विषय को ही ग्रहण करता है (वह अति सन्निकट का ग्रहण नहीं कर सकता है)।

इय नायतस्सरूवो, इंदियतुरए सएसु विसएसु।
अणवरयं धावमाणे, निगिण्हइ नाणरज्जूहिं।। 269।।
इति ज्ञात तत्स्वरूपः, इन्द्रियतुरगान् स्वेषु विषयेषु।
अनवरतं धावमानान् निगृण्हाति ज्ञान–रज्जुभिः।। 269।।

इस प्रकार या उक्तरीति से इन्द्रियों का स्वरूप समझकर पुरुष, अनवरत अपने–अपने विषयों की ओर दौडने वाले इन्द्रिय रूपी घोड़ों को ज्ञान रूपी रस्सी से सुखपूर्वक निग्रह करें।

तह सूरो तह माणी, तह विक्खाओ जयम्मि तह कुसलो।
अजियंदियत्तणेणं, लंकाहिवह गओ णिहणं।। 270।।
तथा शूरो तथा मानी, तथा विख्यातः जगति तथा कुशलः।
अजितेन्द्रियत्वेन, लंकाधिपति गतः निधनं।। 270।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन इन्द्रिय–रूपी अश्वों को ज्ञान रूपी रस्सी से संयमन न करने के कारण ही जग प्रसिद्ध, महान् अहंकारी, कार्य कुशल लंकाधिपति रावण भी सीता के अपहरण रूपी अकृत्य के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ।

देहट्ठिएहिं पंचहिं, खंडिज्जइ इंदिएहिं माहप्पं।
जस्स स लक्खंपि बहिं, विणिज्जिणंतो कह सूरो ?।। 271।।
देहस्थितै पंचभिः खण्ड्यते इन्द्रियैः माहात्म्यं।
यस्य सः लक्षमपि वहिः, विनिर्जयन् कथं शूरः।। 271।।

यदि बाह्य रूप से शूरवीरता दिखाते हुये भी व्यक्ति अपने इन पाँचों इन्द्रियरूपी अश्वों (घोड़ो) को वश में न कर सका तो वह बाहर लाखों योद्धाओं के जीतने पर भी उसे कैसे शूरवीर कहा जा सकता है ? अर्थात् उसे शूरवीर नहीं कहा जा सकता है।

सोच्चि य सूरो सो चेव, पंडिओ तं पसंसिमो निच्चं।
इंदियचोरेहिं सया, न लंटियं जस्स चरणधणं।। 272।।
स एव च शूरः स एव, पण्डितः तमेव प्रशंसामः नित्यं।
इन्द्रियचौरैः, न लुण्ठितं यस्य चरणधनं।। 272।।

वास्तव में वहीं शूरवीर है, वही पण्डित (ज्ञानी) है एवं वही सदा प्रशंसनीय है जिसका चारित्र–धन इन्द्रिय रूपी चोरों द्वारा लूटा नहीं गया हो।

सोएण सुभद्दाई, निहया तह चक्खुणा वणिसुयाई।
घाणेण कुमाराई, रसणेण हया नरिंदाई।। 273।।
श्रौत्रेन सुभद्रादि, निहता तथा चक्षुषा वणिक्सुतादि।
घ्राणेन कुमारादयः, रसनेन हता नरेन्द्रादयः।। 273।।

श्रोत्र (कान) के अनिग्रह से सुभद्रा आदि मारी गयी एवं नेत्र के अनिग्रह से वणिक् (श्रेष्ठि) पुत्र मारा गया। घ्राण (नासिका) के अनिग्रह से नरसिंह पुत्र अर्थात् राजकुमार मारा गया, रसना (जिव्हा) के अनिग्रह से राजा मारा गया और स्पर्श इन्द्रिय के अनिग्रह से सुकुमाल नरेश मारे गये। इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक–एक इन्द्रियों के अनिग्रह से ये सभी मारे गये तो फिर पांचों इन्द्रियों के अनिग्रह से क्या नहीं होगा ? अर्थात् सर्वनाश ही होगा।

फासिंदिएण वसणं, पत्ता सोमालियानरेसाई।
इक्किक्केण वि निहया, जीवा किं पुण समग्गेहिं ?।। 274।।
स्पर्शेन्द्रियेण व्यसनं, प्राप्ताः सोमालिकानरेशादयः।
एकैकेन अपि निहता, जीवा किं पुनः समग्रैः।। 274।।
सेवंति परं विसमं, विसंतिदीपणं भणंति गुरुआवि।
इंदियागिद्धा इहइं, अहरगइं जंति परलोए।। 275।।
सेवन्ते परं विषमं, विशन्ति दीनं भणन्ति गुरूकापि।
इन्द्रियार्थगृद्धाः इह, अधोगतिं यान्ति परलोके।। 275।।

इन्द्रियों के विषय में रत रहने वाले प्राणी इस लोक में युद्ध, संघर्ष आदि विषम दुःखों को भोगते हैं। विषय सुखों के लिये सम्पन्न एवं समृद्ध व्यक्ति भी दीनभाव से याचनादि करते हैं तथा परलोक में भी अधोगति को प्राप्त करते हैं।

नारयतिरियाइभवे, इंदियवसगाण जाइं दुक्खाइं।
मन्ने–मुणेज्ज नाणी, भणिउं पुण सो वि न समत्थो।। 276।।
नारकतिर्यञ्चादिभवे, इन्द्रियवशगानां यान्ति दुःखानि।
मन्ये जानीयात् ज्ञानी, भणितुम पुनः सोऽपि न समर्थः।। 276।।

इन्द्रियों के विषय भोगों के वशीभूत प्राणी नरक, तिर्यक्, मनुष्य एवं देव भवों में भ्रमण करते हुये अनेक प्रकार के दुःखों को प्राप्त करते है, जिसे केवल ज्ञानी ही जानते हैं, फिर भी उन विषयों का त्याग करने मे असमर्थता का अनुभव करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(4) कषाय निग्रह द्वारम्

तो जिणसु इंदियाइं, हणसु कसाए व जइ सुहं महसि।
सकसायाण न जम्हा, फलसिद्धी इंदियजए वि।। 277।।

ततः जय इन्द्रियाणि, जहि कषायान् एव यदि सुखं वांछसि।
सकषायानां न यस्मात् फलसिद्धिः इन्द्रियजयेऽपि।। 277।।

यदि व्यक्ति स्वर्ग एवं अपवर्ग के सुख को पाने की इच्छा रखता है तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करें तथा कषायों का उच्छेद करें, क्योंकि इन्द्रिय–जय होने पर भी कषायों के उच्छेद के बिना मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

तेसि सरूवं भेओ, कालो गइमाइणो य भणियव्वा।
पत्तेय च विवागो, रागद्दोसत्तभावो य।। 278।।

तेषां स्वरूपं भेदः कालः गतिआदयः भणितव्याः।
प्रत्येकं विपाकः रागद्वेष तद् भावः च (वाच्यः)।। 278।।

इसलिये अब यहाँ उन कषायों के स्वरूप, भेद, काल, गति आदि का विवेचन करेंगे, साथ ही प्रत्येक कषाय के विपाक, रूप, फल एवं राग–द्वेष के कारण होने वाले परिणामों का विवेचन करेंगे।

कम्मं कसं भवो वा, कममाओ सिं जओ कसाया तो।
संसारकारणाणं, मूलं कोहाइणो ते य।। 279।।

कर्म कषं भवः वा, कतमाः अस्मिन् यतः कषाया ते।
संसार कारणानां, मूलं क्रोधादयः ते च।। 279।।

'कष्' शब्द का अर्थ है कसना, या बंधना जिनके कारण जीव बन्धन में आता है अथवा जिनके कारण जीव चतुर्गति रूप भव भ्रमण को प्राप्त होते हैं अथवा उससे स्व स्वरूप की हिंसा होती है। कष् अर्थात् कर्म के भाव को ही कषाय कहते हैं। और कषाय से ही क्रोधादि का जन्म होता है। यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोधादि ही वस्तुतः संसार का मूल कारण है।

कोहो माणो माया, लोभो चउरो वि होंति चउभेया।
अणअपच्चक्खाणा, पच्चक्खाणा य संजलणा।। 280।।
क्रोधः मानः माया, लोभः चत्वारोऽपि भवन्ति चतुर्भेदाः।
अनन्त–प्रत्याख्याना, ऽप्रत्याख्याना च संज्वलनाः।। 280।।

कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार भेद है। फिर इनमें से प्रत्येक के चार–चार भेद होते हैं 1. अनन्तानुबन्धी 2. अप्रत्याख्यानी 3. प्रत्याख्यानी और 4. संज्वलन। इस प्रकार कषायों के 4 X 4 = 16 भेद होते हैं।

बंधंति भवमणंतं, ते(य)ण अणंताणंबंधिणो भणिया।
एवं सेसा वि इमं, तेसि सरूवं तु विन्नेयं।। 281।।
बध्नन्ति भवमनन्तं, ते (च) न अनन्तानुबन्धिनः भणिताः।
एवं शेषाऽपि इमे, तेषां स्वरूपं तु विज्ञेयं।। 281।।

जिन कषायों के कारण अनन्त भवों का बन्ध होता है या जिनके कारण अनन्त काल तक संसार मे परिभ्रमण करना होता है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का घातक है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ के स्वरूप को जानना चाहिये।

जलरेणुपुढविपव्वय–राईसरिसो चउव्विहो कोहो।
तिणिसलयाकट्ठट्ठिय–सेलत्थंभोवमो माणो।। 282।।
जल रेणुपृथ्वी–पर्वत राजिसदृशः चतुर्विधाः क्रोधः।
तिनिसलताकाष्ठास्थिशैलस्तम्भोपमः मानः।। 282।।

जल राजि अर्थात् जल में खींची गयी लकीर, रेणु राजि, अर्थात् रेत में खींची गयी रेखा, पृथ्वी राजि अर्थात् मिट्टी में पड़ी हुयी दरार और पर्वतराजि अर्थात् पर्वत में पड़ी हुयी दरार के भेद से क्रोध चार प्रकार का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। लता, काष्ठ, अस्थि (हड्डी) और शैल, स्तम्भ (पत्थर, खम्भा) के समान मान चार प्रकार का है।

मायाऽवलेहिगोमुत्ति–मिंढ़सिंगघणवंसिमूलसमा।
लोहो हलिद्दखंजण–कद्दमकिमिरागसामाणो।। 283।।
मायाऽवलेखिगोमूत्र–मेषश्रृंग–घनवंशीमूल–समा।
लोभः हरिद्रा–खंजनकर्दमक्रमिराग समानः।। 283।।

अवलेखिका, गोमुत्रिका, मेष श्रृंग और धन वंश मूल (बांस की जड़) के समान माया चार प्रकार की है। हल्दी, खंजन, कर्दम और कृमिराग के समान लोभ चार प्रकार का है।

पक्खचउमासवच्छर–जावज्जीवाणुगामिणो भणिया।
देवनरतिरियनारयगइसाहणहेयवो णेया।। 284।।
पक्ष चतुर्मासवत्सर–यावत् जीवानुगामिनः भणिताः।
देवनरतिर्यञ्चनारकगति साधनहेतवः ज्ञेयाः।। 284।।

उक्त अनन्तानुबन्धी आदि चार कषाय क्रमशः एक पक्ष, चारमास, वर्ष और यावत्जीवन पर्यन्त रहते हैं तथा क्रमशः यह देव, मनुष्य, तिर्यंच, और नरकगति के हेतु होते हैं।

चउसु वि गईसु सव्वे, नवरं देवाण समहिओ लोहो।
नेरइयाणं कोवो, माणो मणुयाण अहिययरो।। 285।।
चतसृषु अपि गतिषु सर्वे न वरं देवानां समधिकः लोभः।
नारकानाम् कोपः, मानो मनुष्यानां अधिकतरः।। 285।।

चारों ही गतियों में कषाय के इन चारों ही भेद वाले प्राणी मिलते हैं, फिर भी देवताओं में लोभ की अधिकता, मनुष्य में मान का अतिरेक, तिर्यंच में माया की बहुलता और नरक में क्रोध की अधिकता होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मायातिरियाणऽहिया, मेहुणआहारमुच्छभय सन्ना।
सभवे कमेण अहिया, मणुस्सतिरिअमरनिरयाणं।। 286।।
माया तिर्यंचानां अधिका। मैथुनाहारमुच्छ (परिग्रह) भयसंज्ञा।
स्वभवे क्रमेण अधिका। मनुष्यतिर्यग्चामरनारका नाम्।। 286।।

अब यहाँ आहारादि चार संज्ञाओं का क्रम से चारों गतियों से सम्बन्ध बताते हैं। मनुष्य में मैथुन संज्ञा, तिर्यंचों में आहार संज्ञा, देवों में परिग्रह संज्ञा एवं नारकों में भय संज्ञा की अधिकता होती है।

मित्तं पि कुणइ सत्तुं, अहियं हियं पि परिहरइ।
कज्जाकज्जं न मुणइ, कोवस्स वसगओ पुरिसो।। 287।।
मित्रं अपि करोति शत्रुं, प्रार्थयते अहितं हितं अपि परिहरति।
कार्याकार्यं न जानाति, कोपस्य वशंगतः पुरूषः।। 287।।

कोप के वशीभूत होकर मनुष्य मित्र को शत्रु बना लेता है, अपना ही अहित चाहने लगता है और हित का त्याग कर देता है तथा कार्य–अकार्य के स्वरूप को भी नहीं जानता है।

धमत्थकामभोगाण, हारणं कारणं दुहसयाणं।
मा कुप्पसु कयभवोहं, कोहं जइ जिणमयं मुणसि।। 288।।
धर्मार्थकामभोगानां हारणं कारणं दुःखशतानां।
मा कुरूष्व कृतभवौघं, क्रोधं यदि जिनमतं जानासि।। 288।।

यदि जिनमत को जानते हो तो धर्म–अर्थ, काम और भोगों के विनाशक, सैकड़ों दुःखों के कारणभूत तथा संसार प्रवाह में गिराने वाले इस क्रोध को मत करों।

इह लोए च्चिय कोवो, सरीरसंतावकलहवेराइं।
कुणइ पुणो परलोए, नरगाइसु दारुणं दुक्खं।। 289।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इह लोके एव कोपः, शरीरसंतापकलहवैराणि।
करोति पुनः परलोके, नरकादिषु दारूणं दुःखं।। 289।।

इस लोक में यह क्रोध शारीरिक–सन्ताप, कलह एवं वैरभाव (दुश्मनी) को उत्पन्न करता है और परलोक में असह्य नारकीय दुःखों को उत्पन्न करता है।

खंती सुहाण मूलं, मूलं धमस्स उत्तमा खंती।
हरइ महाविज्जा इव, खंती दुरियाइं सयलाइं।। 290।।
क्षन्तिः सुखानां मूलं, मूलं धर्मस्य उत्तमा क्षान्तिः।
हरति महाविद्या इव क्षान्तिः दुरितानि सकलानि(हरति)।। 290।।

जैसे क्रोध का विरोधीगुण क्षमा सुखों का मूल है इसी प्रकार उत्तम क्षमा धर्म का भी मूल है। क्षमा महाविद्या के समान महा प्रभाविक है और क्षमा सर्व आपदाओं का नाश करने वाली है।

कोवम्मि खमाए वि अचंकारिय खुड्डुओ य आहरणं।
कोवेण दुहं पत्तो, खमाएनामिओसुरेहिं पि।। 291।।
कोपे क्षमायां अपि अचङ्कारित क्षुल्लक च उदाहरणं।
कोपेन दुःखं प्राप्तः क्षमया प्रणतः सुरैः अपि।। 291।।

क्रोध एवं क्षमा के परिणामों को स्पष्ट करने के लिये क्रमशः अचंकारित भट्टिका एवं नागदत्त नाम के क्षुल्लक के कथानक कहे गये हैं जो क्रोध करने के फल स्वरूप महान् दुःख को प्राप्त हुए तथा क्षमा करने पर देवों द्वारा वन्दित हुये।

जाइकुलरूवसुअबल–लाभतविस्सरियअठ्ठहा माणो।
जाणियपरमत्थेहिं, मुक्को संसारभीरूहिं।। 292।।
जातिकुलरूपश्रुतबललाभऐश्वर्य अष्टधा मानः।
ज्ञात परमार्थैः मुक्तः संसार–भीरुभिः।। 292।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मद (अहंकार) आठ प्रकार का है – 1. जाति 2. कुल 3. रूप 4. श्रुत 5. बल 6. लाभ 7. तप और 8. ऐश्वर्य। परमार्थ ज्ञाता एवं संसार भीरू साधक द्वारा इस मद का त्याग कर दिया जाता है।

अन्नयरमउम्मत्तो, पावइ लहुयत्तणं सुगुरुओ वि।
विबुहाण सोयणिज्जो, बालाण वि होइ हसणिज्जो।। 293।।
अन्यतर–मदोन्मत्तः, प्राप्नोति लघुतरत्वं सुगुरूकः अपि।
विवुधानां शोचनीयः वालानां अपि भवति हसनीयः।। 293।।

इन आठ प्रकार के अहंकारों में से एक मद के द्वारा भी उन्मत्त होने पर महान् व्यक्ति भी लघुता (हीनत्व) को प्राप्त कर लेता है। यह अहंकार विद्वानों के लिये भी विचारणीय है, क्योंकि इसके कारण वे मूर्खों के द्वारा भी हँसी के पात्र बन जाते हैं।

जइ नाणाइमओ वि हु, पडिसिद्धो, अठ्ठमाणमहणेहिं।
तो सेसमयट्ठाणा, परिहरियव्वा पयत्तेणं।। 294।।
यदि ज्ञानादिमदोऽपि खलु प्रतिषिद्धं अष्टमानमथनैः।
ततः शेषमदस्थानानि परिहर्तव्यानि प्रयत्नेन।। 294।।

यदि आठ प्रकार के अहंकार के मद में ज्ञानादि शुभ विषयों के भी अहंकार को निषिद्ध किया गया है तो फिर अन्य अहंकारों का क्या कहना। अर्थात् वे भी निषिद्ध ही है। उन्हें नहीं करना चाहिये।

दप्पविसपरममंत्तं, नाण जो तेण गव्वमुव्वहइ।
सलिलाओ तस्स अग्गी, समुट्ठिओ मंदपुन्नस्स।। 295।।
दर्पविषपरममन्त्रं, ज्ञानं यः तेन गर्वमुद्वहति।
सलिलात् तस्य अग्निः समुत्थितः मन्द पुण्यस्य।। 295।।

जाति आदि विषयक (अहंकार) रूपी विष से मुक्त होने के लिये ज्ञान की परमावश्यकता है। यदि ज्ञानी इतना जानने पर भी गर्व को वहन करता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो ऐसे मंद पुण्य व्यक्ति का यह ज्ञान आदि का अहंकार करने का प्रयास पानी से अग्नि को प्रज्वलित करने जैसा ही होगा।

धम्मस्स दया मूलं, खंती वयाण सयलांण।
विणओ गुणाण मूलं, दप्पो मूलं विणासस्स।। 296।।
धर्मस्य दया मूलं मूलं क्षान्तिः व्रतानां सकलानाम्।
विनयः गुणानां मूलं, दर्पः मूलं विनाशस्य।। 296।।

जिस प्रकार दया धर्म का मूल है, क्षमा सम्पूर्ण व्रतों का मूल है, विनय सद्गुणों का मूल है उसी प्रकार अहंकार (दर्प) भी विनाश का मूल है।

बहुदोससंकुले गुण–लवम्मि को होज्ज गव्विओ इहइं ?।
सोऊण विगयदोसं, गुणनिवहं पुव्वपुरिसाणं।। 297।।
वहुदोषसंकुले गुणलोक कः भवेत् गर्वितः अस्मिन्।
श्रुत्वा विगतदोषं, गुण–निवहं पूर्व पुरूषाणाम्।। 297।।

तीर्थंकर, गणधर आदि महापुरूषों के गुणों से परिपूर्ण निर्दोष चारित्र का स्मरण करके कौन ऐसा विवेकी व्यक्ति होगा जो अंश मात्र गुणों का धारक होकर भी गर्व (अहंकार) करेगा।

साहेइ दोसाभावो, गुणोव्व जइ होइ मच्छरुत्तिण्णो।
विहवीसु तह गुणीसु य, दूमेइ ठिओ अहंकारो।। 298।।
शोभते दोषाभावः, गुणवत् यदि भवति मत्सरोत्तीर्णः।
विभविषु तथा गुणीषु च दुनोति स्थितः अहंकारः।। 298।।

अहंकार से रहित निर्दोष चारित्र वाला व्यक्ति गुणवानों के समान ही शोभित हो जाता है। यदि ऐश्वर्य शालियों तथा गुणीजनों में भी अहंकार आ जाता है तो वह उन शिष्टजनों को भी अत्यधिक मानसिक पीड़ा पहुंचाता है। अतः किसी भी रूप में अहंकार नहीं करना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाइमएणिक्केण वि, पत्तो डुबत्तणं दियवरो वि।
सव्वभएहिं कहं पुण, होहिंति ? न सव्वगुणहीणा।। 299।।
जातिमदेकेन अपि प्राप्तः डुम्बत्वं द्विजवरः अपि।
सर्वमदैः कथं पुनः भविष्यन्ति ? न सर्वगुणहीना।। 299।।

एक मात्र जाति के अहंकार के फल स्वरूप पुरोहित पुत्र भी अन्य भव में डोम जाति में उत्पन्न हुआ तो जो व्यक्ति इन सभी मदों से ग्रसित है, वह क्यों नहीं भविष्य में भद्र कुलोत्पत्ति आदि गुणों से हीन होगा ? अर्थात् वह अवश्य ही अधोगति को प्राप्त करेगा।

जे मुद्धजणं परिवं–चयंति बहुअलियकूडकवडेहिं।
अमरनरसिवसुहाण, अप्पा वि हु वंचिओ तेहिं।। 300।।
ये मुग्धजनं परिवंचयन्ति बहुअलीककूटकपटैः।
अमरनरशिव–सुखानां, आत्मापि खलु वंचितः तैः।। 300।।

जो व्यक्ति अनेक असत्य वचन, कूटनीति तथा कपटवृत्ति से भद्रजनों को ठगते रहते हैं वे व्यक्ति शिव–सुख अर्थात् मोक्ष से स्वतः ही वंचित हो जाते हैं।

जइ वणिसुयाइ दुक्खं, लद्धं एक्कसि कयाइ मायाए।
तो ताण को विवागं, जाणइ ? जे माइणो निच्चं।। 301।।
यदि वणिक्–सुतया दुःखं लब्धं एकशः कृतया मायया।
ततः तेषां कः विपाकः, जानाति ? ये मायिनः नित्यं।। 301।।

यदि एक बार के ही मायाचार के कारण वणिक् पुत्री वसुमती अनेक दुःखों को प्राप्त हुयी, तो फिर जो नित्य ही मायाचार से युक्त व्यवहार करते हैं उनको क्या परिणाम भोगने होंगे ? इसे कौन बता सकता है ? अर्थात् उन्हें अनन्त दुःखों को भोगना ही पड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को लोभेण न निहओ ? कस्स न रमणीहिं भोलियं ? हिययं।
को मच्चुणा न गासिओ ? को गिद्धो नेय विसएसु ?।। 302।।
को लोभेन न निहतः? कस्य न रमणीभिः व्यामोहितं? हृदयं।
को मृत्युना न ग्रस्तः ? विषयेषु को न गृद्धः ?।। 302।।

लोभ के द्वारा किसका विनाश नहीं हुआ ? सुन्दर रमणियों के द्वारा कौन व्यामोहित नहीं हुआ ? मृत्यु के द्वारा कौन ग्रसित न हुआ ? विषयों में कौन आसक्त न हुआ हो ? अर्थात् लोभ, मोह, काम, सुख, ऐन्द्रिक विषयों से निर्लिप्त रहना और मृत्यु के मुख से बच पाना अति कठिन है।

पियविरहाउ न दुसहं, दारिद्दाओ परं दुहं नत्थि।
लोभसमो न कसाओ, मरणसमा आवइ नत्थि।। 303।।
प्रियविरहात् न दुःसहं, दारिद्र्यात् परं दुःखं नास्ति।
लोभसमः न कषायः, मरणसमा आपत् नास्ति।। 303।।

प्रियजनों के विरह (वियोग) के अतिरिक्त कोई अन्य दुसह्य नहीं है।
दारिद्र्य के समान कोई विपत्ति नहीं है।
लोभ के समान कोई कषाय नहीं है।
मरण के समान कोई आपत्ति नहीं है।

थोवा माणकसाई, कोहकसाई तओ विसेसऽहिया।
मायाए विसेसऽहिया, लोहोतओ विसेसऽहिया।। 304।।
स्तोकाः मानकषायाः, क्रोध कषाया ततः विशेषाधिकाः।
मायायाः विशेषाधिकाः, लोभंततो विशेषाधिकाः।। 304।।

चारों गतियों में विद्यमान जीवों में सबसे कम मान कषाय वाले जीव होते हैं, उनसे कुछ अधिक क्रोध कषाय वाले जीव होते हैं, उनसे भी अधिक संख्या में माया कषाय वाले जीव होते हैं। और उनसे भी विशेष अधिक लोभ कषाय वाले जीव होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इय लोभस्सुवओगो, सत्तेवि हु दीहकालिओ भणिओ।
पच्छा य जं खविज्जइ, एसोच्चिय तेण गरुययरो।। 305।।
इति लोभस्योपयोगः सूत्रेऽपि हु यस्मात् दीर्घकालिकः भणितः।
पश्चात् च यत् क्षप्यते, एष एव तेन गरूकतरः।। 305।।

सूत्रों में लोभ कषाय को ही दीर्घ कालिक कहा गया है, क्योंकि क्षपकश्रेणि से आरोहण करते हुए अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थानवर्ती जीव में लोभ के अतिरिक्त शेष सभी कषाय क्षय हो जाते हैं, परन्तु इस सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान के अन्त में भी प्रबल पुरुषार्थ से ही लोभ कषाय का क्षय होता है। अतः कषायों में लोभ कषाय को ही अत्यन्त गुरुत्तर कहा गया है।

कोहाइणो य सव्वे, लोभाओच्चिय जओ पयट्टंति।
एसोच्चिय तो पढमं, निग्गहियव्वो पयत्तेणं।। 306।।
क्रोधादयश्च सर्वे, लोभात् चैव यतः पवर्तन्ते।
एष चैव तत प्रथमं, निग्रहीतव्यः प्रयत्नेन।। 306।।

क्रोध आदि सभी लोभ के कारण ही होते हैं। इसीलिये लोभ को गुरुत्तर कषाय कहा गया है। लोभकषाय का ही निग्रह करना चाहिये।

न या वहिवेणुवसमिओ, लोभो सुरमणुयचक्कवट्टीहिं।
संतोसोच्चिय तम्हा, लोभविसुच्छायणे मंतो।। 307।।
न च विभवेनोपशमित, लोभः सुरमनुजचक्रवर्तिभिः।
संतोष चैव तस्मात्, लोभविषोत्सादने मन्त्रः।। 307।।

देवता, चक्रवर्ती, राजा, मनुष्य आदि सभी अपनी--अपनी सम्पदा से भी संतुष्ट होते हुए नहीं प्रतीत होते हैं अर्थात् लोभ का उपशमन नहीं कर पाते हैं अतःएव लोभ रूपी विष को उच्छेद करने के लिये एक मात्र संतोष रूपी मंत्र की आराधना करनी चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहजह वड्ढइ विहवा, तहतह लोभोवि वड्ढए अहिर्यं।
देवा इत्थाहरणं, कविलो वा खुड्डओ वा वि।। 308।।
यथा यथा वर्धते विभवः, तथा तथा लोभोऽपि वर्धते अधिकं।
देवा अत्रोदाहरणं, कपिलः वा क्षुल्लको वा अपि।। 308।।

जैसे–जैसे धन (वैभव) बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे लोभ भी बढ़ता जाता है। देवों में क्रोध, मान और माया की अपेक्षा भी लोभ की मात्रा अधिक है और मर्त्यलोक में भी मनुष्यों में धन के प्रति मूर्च्छा अधिक है इस हेतु कपिल एवं क्षुल्लक के उदाहरण द्रष्टव्य है।

सामन्नमणुचरंतस्स, कसाय जस्स उक्कडा हुंति।
मन्नामि उच्छुपुप्फं व, निरत्थयं तस्स सामन्नं।। 309।।
श्रामण्यंमनुचरन् तस्य, कषायाः यस्य उत्कटा भवन्ति।
मन्ये इक्षुपुष्पं इव, निरर्थकं तस्य श्रामण्यं।। 309।।

जो श्रमण जीवन में सम्यक् चारित्र का आचरण करते हैं यदि वे भी क्रोधादि कषायों की तीव्रता से ग्रसित हैं तो वे उनका श्रमणत्व इक्षु के पुष्प की तरह निष्फल है।

जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए।
तंपि कसाइयमित्तो हारेइ नरो मुहुत्तेणं।। 310।।
यत् अर्जितं चारित्रं, देशोनया पि पूर्वकोट्या।
तत् अपि कषायितमात्रं, हारयति नरः मुहूर्तेन।। 310।।

कुछ कम पूर्व कोटि वर्षों तक चारित्र धर्म का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए भी कोई–कोई मनुष्य कषाय के द्वारा ग्रसित हो जाये तो उस चारित्र से मात्र अन्तर्मुहूर्त्त में ही पतित हो जाता है।

जइ उवसंतकसाओ, लहइ अणंतं पुणो वि पडिवायं।
न हु मे वीससियव्वं, थोवे कसायसेसम्मि।। 311।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि उपशान्तकषायः, लभते अनन्तं पुनः अपि प्रतिपातम्।
न खलु भवद्भिः विश्वसितव्यं, स्तोकेऽपि कषाय शेषे।। 311।।

यदि उपशमित कषाय वाला साधक भी अनन्त भवों में भ्रमण करते हुए अधः पतन को प्राप्त हो जाता है, तो फिर अनुपशान्त कषाय वाले व्यक्ति के लिये क्या कहें, अर्थात् उसके पतन की तो बहुत सम्भावनाएँ हैं।

पढमाणुदये जीवो, न लहइ भवसिद्धिओ वि सम्मत्तं।
बीयाण देसविरइं, तइयाणुदयम्मि चारित्तं।। 312।।
प्रथमानामुदये जीवः, न लभते भवसिद्धिकः अपि सम्यक्त्वं।
द्वितीयानां देशविरतिं तृतीयानामुदये चारित्रं।। 312।।

अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय होने पर उसी भव में सिद्ध होने वाला साधु या व्यक्ति भी उस स्थिति में सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता है।

सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ हुंति।
मूलच्छेज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाणं।। 313।।
सर्वेऽपि च आचाराः, संज्वलानानां तु उदये भवन्ति।
मूलोच्छेद्यं पुनः भवति, द्वादशानां कषायानाम्।। 313।।

अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय होने पर देश–विरति अर्थात् गृहस्थधर्म का परिपालन भी सम्भव नहीं होता है। प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदित होने पर सम्पूर्ण चारित्र या मुनि–धर्म प्राप्ति सम्भव नहीं होती है। संज्वलन कषाय के उदय काल में व्यक्ति यथाख्यात–चारित्र को प्राप्त नहीं कर पाता है। मूल एवं उत्तर गुणों के परिपालन में जो अतिचार या दोष होते हैं वे संज्वलन आदि कषायों के कारण ही होते हैं। संज्वलन कषायों के अतिरिक्त शेष द्वादश कषायों अर्थात् अनन्तानुबन्धी प्रत्याख्यानीय और अप्रत्याख्यानीय कषाय चतुष्कों के उदय होने पर उनका छेदन आठवें मूल प्रायश्चित्त द्वारा होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जं पिच्छसि जियलोए, चउगइसंसारसंभवं दुक्खं।
जं जाण कसायफलं, सोक्खं, पुण तज्जयस्स फलं।। 314।।
यत् प्रेक्षसे जीवलोके, चतुर्गति–संसारभवं दुःखं।
तत् जानीहि कषाय फलं, सौख्यं पुनः तत् जयस्यफलं।। 314।।

इस चतुर्गति संसार में जो दुःख दिखाई देते हैं वे सब इन्हीं कषायों का ही फल है और इन कषायों पर विजय प्राप्त करने का फल मोक्ष सुख है।

तं वत्थुं मुत्तव्वं, जं पइ उप्पज्जए कसायऽग्गी।
तं वत्थुं घित्तव्वं, जत्थोवसमो कसायाणं।। 315।।
एसो सो परमत्थो, एयं तत्तं तिलोयसारमिणं।
सयलदुहकारणाणं, विणिग्गंहो जं कसायाण।। 316।।
तत् वस्तु मोक्तव्यं, यत् प्रति उत्पद्यते कषायाग्निः।
तत् वस्तु ग्रहीतव्यं, यत्रोपशमो कषायानाम्।। 315।।
एषः सः परमार्थः, एतत् तत्वं त्रिलोकसारमेतत्।
सकलदुःख कारणानां, विनिग्रह यत् कषायानाम्।। 316।।

जिसके संसर्ग से कषाय रूपी आग उत्पन्न होती है उसका परित्याग कर देना चाहिये और जिससे यह कषाय–अग्नि शांत हो जाये उसको ग्रहण करना चाहिये। यही परमार्थ (परमतत्त्व) है और यही तीनों लोकों का सारभूत है। अतएव सभी दुःखों के कारण भूत इन कषायों का निग्रह करना चाहिए।

माया लोभो रागो, कोहो माणो य वण्णिंओ दोसो।
निज्जिणसु इमे दोन्नि वि, जइ इच्छसि तं पयं परमं।। 317।।
मायालोभौ रागः, क्रोधः मानौ च वर्णितः द्वेषः।
निर्जरा ऐतौ द्वौ अपि, यदिच्छसि तत् पदं परमम्।। 317।।

माया और लोभ से राग उत्पन्न होता है तथा क्रोध एवं मान के परिणाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप द्वेष उत्पन्न होता है। अतः यदि मोक्ष रूपी परम आनन्द को प्राप्त करना हो तो राग और द्वेष को जीत लो।

ससुरासूरं पि भुवणं, निज्जिणिऊणं वसीकयं जेहिं।
ते रागदोसमल्ले, जयंति जे ते जये सुहडा।। 318।।
ससुरासुरं अपि भुवनं, निर्जित्य वशीकृतं यैः।
ते रागद्वोषमल्लौ, जयन्ति ये ते जगति सुभटाः।। 318।।

भवनपति आदि चारों प्रकार के देव एवं असुर, नारक, तिर्यक् और मनुष्य इनसे युक्त यह सम्पूर्ण राग और द्वेष के वशीभूत है। जिन–वचन में रत जो महासत्वशाली प्राणी राग--द्वेष रूपी मल्लों को जीत लेते हैं, उन्हें ही सुभट (अच्छायोद्धा) कहा जाता है।

रागो य तत्थ तिविहो, दिट्ठिसिणेहाणुरायविसएहिं।
कुप्पवयणेसु पढमो, बीओ सुयबंधुमाईसु।। 319।।
विसयपडिबंधरूवो, तइओ दोसेण सह उदाहरणा।
लच्छीहरसुंदर--अरिहदत्तनदाइणो कमसो।। 320।।
रागः च तत्र त्रिविधः, दृष्टिस्नेहानुरागविषयैः।
कुवचनेषु प्रथमः द्वितीयः सुतबन्धुआदिषु।। 319।।
विषयप्रतिबन्धरूपः तृतीय दोषेण सह उदाहरणाः।
लक्ष्मी घर सुन्दर अर्हदत्तनन्दादयः क्रमशः।। 320।।

राग तीन प्रकार का कहा गया है –

1. दृष्टि राग 2. स्नेहानुराग और 3. विषयानुराग। इसमें प्रथम कुप्रवचनों (मिथ्या मान्यताओं) से द्वितीय पुत्र बन्धु बान्धवादि से तथा तृतीय ऐन्द्रिय विषयों में अनुरक्ति से सम्बन्धित है। तीनों प्रकार का राग तथा द्वेष इन चारों के उदाहरण क्रमशः लक्ष्मीधर, सुन्दर, अर्हद् दत्त और नन्द कहे गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्तू विसं पिसाओ, वेयालो हुयवहो य पज्जलिओ।
तं न कुणइ जं कुविया, कुणंति रागाइणो देहे।। 321।।
शत्रुः विषं पिशाचः, बेतालः हुतवहश्चप्रज्वलितः।
तद् न करोति यत् कुपिता, कुर्वन्ति रागादयः देहे।। 321।।

शत्रु, विष, पिशाच, वेताल और प्रज्वलित अग्नि – ये सभी शरीर को इतना दुःख नहीं देते हैं जितना दुःख मानव को राग–द्वेष जनित परिणाम (भाव) पहुँचाते रहते हैं।

जो रागाईण वसे, वसम्मि सो सयलदुक्खाणं।
जस्स वसे रागाई, तस्स वसे सयलसुक्खाइं।। 322।।
यः रागादीनां वशे, वशगः सः सकलदुःखानाम्।
यस्य वशे रागादि, तस्य वशे सकलसुखानि।। 322।।

जो व्यक्ति इन रागद्वेषादि के वश में होते हैं वे सम्पूर्ण दुःखों के वशीभूत हो जाते हैं। परन्तु जिन्होंने रागादि को वश में कर लिया है तो उन्होंने सम्पूर्ण सुखों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है।

पुव्वुत्तगुणा सव्वे, दंसणचारित्तसुद्धिमाईया।
होंति गुरुसेवणुच्चिय, गुरुकुलवासं अओवुच्छं।। 323।।
पूर्वोक्तगुणा सर्वे, दर्शन चारित्रशुद्धिआदयः।
भवन्ति गुरूसेवनात् चैव, गुरूकुलवासं अतः उक्तं।। 323।।

इन उपर्युक्त सभी गुणों की प्राप्ति एवं सम्यक् दर्शन और चारित्र की शुद्धि आदि गुरु की सेवा सुश्रुषा से ही संभव है। अतः अग्रिम गाथाओं में गुरुकुलवास के सम्बन्ध में कहूँगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. गुरूकुलवासद्वारम्

को य गुरु ? को सीसो ?, के य गुणा ? गुरुकुले वसंतस्स।
तप्पडिवक्खे दोसा, भणामि लेसेण तत्थ गुरुं।। 324।।

कश्चगुरूः ? को शिष्यः ? के च गुणाः ? गुरूकुले वसतः।
तत् प्रतिपक्षे दोषाः भणिष्यामि लेशेनतत्रगुरूम्।। 324।।

गुरु कुल में रहने वालों के क्या गुण होते हैं ? और उनके क्या दोष होते हैं? यहाँ मैं इन सबके विषय में संक्षेप में वर्णन करता हूँ।

विहिपडिवन्नचरित्तो, गीयत्थो वच्छलो सुसीलो य।
सेवियगुरुकुलवासो, अणुयत्तिपरो गुरु भणिओ।। 325।।

विधिप्रतिपन्नचारित्रः, गीतार्थः वत्सलः सुशीलश्च।
सेवित गुरूकुलवासः अनुवृत्तिपरः गुरूः भणितः।। 325।।

सुविधि से प्रतिपन्न चारित्र वाला गीतार्थ, सभी जीवों का हित करने वाला सच्चरित्र गुरुकुल में वास करने वाला एवं शिष्यादि पर अनुग्रह करने वाला गुरु कहा गया है।

देसकुलजाईरूवी, संघयणधिईजुओ अणासंसी।
अविकत्थणो अमाई, थिरपरिवाडी गहियवक्को।। 326।।

जियपरिसो जियनिद्दो, मज्झत्थो देसकालभावण्णू।
आसन्नकलद्धपइभो, नाणाविहदेसभासण्णू।। 327।।

पंचविहे आयरे, जुत्तो सुत्तऽत्थतदुभयविहिण्णू।
आहरणहेउउवणय–नयनिउणो गाहणाकुसलो।। 328।।

स समयपरसमयविऊ, गभीरो दित्तिमं सिवो सोमो।
गुणसयकलिओ एसो, पवयणउवएसओ य गुरु।। 329।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशकुलजातिरूपी, संहनन–धृतियुतः अनाशंसी।
अविकत्थनः अमायि, स्थिरः परिपारिः गृहीत–वाक्यः।। 326।।
जितपरिषहः जितनिद्रः, मध्यस्थः देशकाल भावज्ञः।
आसन्न लब्धप्रतिभः नानाविधदेशभाषाज्ञः।। 327।।
पंचविधआचारे, युक्तः सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञः।
आहरणहेतु–उपनय–नयनिपुणः ग्राहणाकुशलः।। 328।।
स्व समय परसमयवेत्ता, गम्भीरः दीप्तिमान् शिव सोमः।
गुणशतकलितः एषः प्रवचनोपदेशकश्चगुरूः।। 329।।

देश कुल (पितृपक्ष) एवं जाति (मातृपक्ष) से जो शुद्ध है, साथ ही रूपवान विशिष्ट संघटना युक्त, धृति (संयमादि) युक्त, विकथारहित, माया–रहित अविस्मृत सूत्रार्थ, आदेय वचन, परिषहों को जीतने वाला, निद्रा को जीतने वाला, राग–द्वेष से रहित, देशज्ञ, कालज्ञ, भावज्ञ, आसन्न लब्ध प्रतिभावान से युक्त, देशों की भाषा का ज्ञाता, पंचाचार से युक्त, सूत्र अर्थ को जानने वाला, दृष्टान्त, हेतु, उपनय एवं नयज्ञान में निपुण, प्रतिपादन में कुशल, स्वसिद्धान्त एवं पर सिद्धान्त का ज्ञाता, गम्भीर, दीप्तिमान, कल्याणकारी, सौम्य प्रकृतिवाला, शतगुण सम्पन्न आदि छत्तीस गुणों से युक्त प्रवचन एवं उपदेश प्रदान करने में जो कुशल है वही गुरू है।

अट्ठविहा गणिसंपय, आयाराई चउविहिक्केक्का।
चउहा विणयपवित्ती, छत्तीसगुणा इमे गुरुणो।। 330।।
अष्टविद्या गणिसंपत्, आचार्यादि चतुर्विधा एकैका।
चतुर्धा विनय पवित्री, षड्त्रिंशत् गुणाः इमे गुरोः।। 330।।

आचार्य की आठ सम्पदाओं में से प्रत्येक के चार–चार प्रकार (8 X 4=32) एवं चार प्रकार की विनय प्रवृत्ति मिलकर गुरू के छत्तीस गुण बताये गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालाइदोसवसओ, एत्तो एक्काइगुणविहीणो वि।
होइ गुरु गीयत्थो, उज्जुत्तो सारणाईसु।। 331।।
कालादि दोषवशतः, इतः एकादिगुण–विहीनोऽपि।
भवति गुरुः गीतार्थः उद्युक्त सारणादिषु।। 331।।

कालादि दोष के कारण यदि इन छत्तीस गुणों में से एक दो अथवा तीन गुण कम हो तो भी वे गीतार्थ मुनि गुरु कहलाते हैं। फिर भी गीतार्थ गुरू में भी विशेष रूप से सारणा–वारणा ये दो गुण अवश्य होने चाहिये।

जीहाए विलिहिंतो, न भद्दओ जति सारणा नत्थि।
दंडेण वि ताडंतो, भद्दओ सारणा जत्थ।। 332।।
जिव्हया विलीढ़यन्, न भद्रकः यत्र सारणा नास्ति।
दण्डेनापि ताड़यन्, भद्रका सारणा यत्र।। 332।।

अत्यन्त वात्सल्य से युक्त गुरू भी यदि शिष्य को जिह्वा से चाटता है अर्थात् उसे अति स्नेह करता, किन्तु उनकी सारणा–वारणा नहीं करता है तो वह गुरू अभद्र कहलाता है तथा जो गुरु डंडे से प्रहार करता है फिर भी उसकी सारणा–वारणा करता है तो वह भद्र कहलाता है।

जह सीसइं निकिंतइ, कोई सरणागयाण जंतूणं।
तह गच्छमसारंतो, गुरु वि सुत्तो जओ भणियं।। 333।।
यथा शिरांसि निकृन्तति, काश्चित् शरणागतानां जन्तूनाम्।
तथा गच्छम् असारयन् गुरुः अपि सूत्रे यथा भणितम्।। 333।।

जैसे कोई पापकर्मा व्यक्ति अपने शरण में आये हुए प्राणियों का भी शिरच्छेद कर देता है उसी प्रकार यदि कोई गुरू भव–भीति के कारण शरण में आये हुये शिष्यों की सारणा नहीं करता है तो वह उनके शिरच्छेद के समान पाप कर्म करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जणणीए अनिसिद्धो, निहओ तिलहारओ पसंगेणं।
जण्णी वि थणच्छेयं, पत्ता अनिवारयंती उ।। 334।।
इय अनिवारियदोसा, सीसा संसारसागरमुविंति।
विणियत्तपसंगा उण, कुणंति संसारवुच्छेयं।। 335।।
जनन्या अनिषिद्धः, निहतः तिलहार कः–प्रसङ्गेन।
जननी अपि स्तनच्छेदं, प्राप्ता अनिवारयन्ती तु।। 334।।
इति अनिवारित–दोषाः, शिष्याः संसार सागरं आप्नुवन्ति।
विनिकृत–प्रसङ्गाः पुनः, कुर्वन्ति संसाररोच्छेदम्।। 335।।

जिस प्रकार अपनी जननी द्वारा चौर्य कर्म के हेतु न रोके जाने वाला तिलहारक मारा गया एवं उसे न रोकने वाली जननी (माता) को स्तनच्छेद करवाना पडा।

उसी प्रकार शिष्यों के दोषों का निवारण न करने पर वे अविनीत शिष्य पुनः संसार सागर को प्राप्त होते हैं, किन्तु विनीत शिष्य दोषों का निवारण करने से यथा समय संसार का उच्छेद करते हैं।

जहिं नत्थि सारणवारणा, व चोयणपडिचोयणा व गच्छम्मि।
सो य अगच्छो गच्छो, संजमकामीहिं मुत्तव्वो।। 336।।
यत्र नास्ति सारणा वारणा, च चोदनाप्रति चोदना च गच्छे।
सः च अगच्छो गच्छः संयम–कामिभिः मोक्तव्यः।। 336।।

जिस गच्छ में सारणा (सार–संभाल) वारणा (गलत मार्ग पर जाते हुए को रोकता) नहीं है एवं प्रेरणा तथा प्रति प्रेरणा भी नहीं है। वह गच्छ अगच्छ ही है। अतः संयम मार्ग का साधक ऐसे गच्छ का त्याग कर दे।

अणभिओगेण तम्हा, अभिओगेण व विणीयइयरे य।
जच्चियरतुरंगा इव, वारेअव्वा अकज्जेसु।। 337।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनभियोगेन तस्मात्, अभियोगेन च विनीतः इतरे च।
जात्येतर–तुरङ्गाः इव, वारयितव्याः अकार्येषु।। 337।।

इसलिये गुरू द्वारा विनीत शिष्य को कोमल वचनों के द्वारा एवं अविनीत शिष्य को कठोर वचनों से निषिद्ध कार्यों को करने से रोकना चाहिये। उसी प्रकार जैसे सीधे घोडे को धीरे–धीरे लगाम खींच कर सुमार्ग में लाया जाता एवं उदण्ड घोड़े को कोड़े से मार कर सन्मार्ग पर लाया जाता है।

गच्छं तु उवेहिंतो, कुव्वइ दीहं भवं विहीए उ।
पालंतो पुण सिज्झइ, तइयभवे भगवई सिद्धं।। 338।।
गच्छं तु उपेक्षमाणः, करोति दीर्घं भवं विधिना तु।
पालयन् पुनः सिद्धयति, तृतीय भवे भगवति–सिद्धं।। 338।।

सारणा–वारणा आदि न करने वाला और गच्छ की उपेक्षा करने वाला गुरू दीर्घ काल तक भव–भ्रमण करता है जो सारणा वारणा आदि का पालन करता है। वह तीसरे भव में सिद्धि को प्राप्त करता है, ऐसा भगवती सूत्र में कहा गया है।

गुरुचित्तविऊ दक्खा, उवसंता अमुइणो कुलवहुव्व।
विणयरया य कुलीणा, होंति सुसीसा गुरुजणस्स।। 339।।
गुरुचित्तविदः दक्षाः, उपशांताः अमोचकाः अक्रुष्टाः कुल वधू इव।
विनयरताश्च कुलीनाः, भवन्ति सुशिष्याः गुरुजनस्य।। 339।।

गुरू के चित्त को जानने में दक्ष एवं उपशान्त शिष्य कुल वधु के समान अपने गुरू का कभी परित्याग नहीं करता है। जो गुरूजनों के प्रति विनयरत है एवं कुलीन है ऐसे ही शिष्य सुशिष्य होते हैं।

आगरिंगियकुसलं, जइ सेयं वायसं वए पुज्जा।
तहवि य सिं न विकूडे, विरहम्मि य कारण पुच्छे।। 340।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकारिंगित–कुशलं, यदि श्वेतं वायसं वत् पूज्याः।
तथापि च सिं न विकूटयेत्, विरहे च कारणं पृच्छेत्।। 340।।

गुरू के इंगित एवं संकेत को जानने में कुशल शिष्य को यदि गुरू यह कहे कि सफेद कौंए को देखो तो ऐसा कहने पर भी तत्काल गुरू के वचनों का प्रतिकार न करे, समय को जानकर एकान्त में इस विषय में गुरू से समाधान प्राप्त करें।

निवपुच्छिएण गुरुणा, भणिओ गंगा कओमूही वहइ?।
संपाइयवं सीसो, जह तह सव्वत्थ कायव्वं।। 341।।
नृपपृष्टेण गुरूणा, भणितः गङ्गा किं मुखी वहति ?।
सम्पादयन्निव शिष्यः यथा तथा सर्वत्र कर्तव्यम्।। 341।।

राजा के द्वारा राज कर्मचारियों से एवं गुरू के द्वारा शिष्य से यह पूछा गया कि गंगा नदी किस दिशा में बहती है ? तो सम्यक् विनय पूर्वक शिष्य ने कहा पूर्व दिशा में बहती है। इसी प्रकार सभी प्रयोजनों में शिष्य को सम्यक् विनयपूर्वक कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये।

नियगुणगारवमत्तो, थद्धो विणयं न कुव्वइ गुरूणं।
तुच्छो अवण्णवाई, गुरुपडिणीओ न सो सीसो।। 342।।
निजगुणगौरवमत्तः, स्तब्धः विनयं न करोति गुरूणाम्।
तुच्छः अवर्णवादी, गुरूप्रत्यनीकः न सः शिष्यः।। 342।।

अपने गुण के गर्व से मद–मत्त बना हुआ अविनीत शिष्य गुरू के प्रति विनय नहीं करता है तो ऐसा शिष्य तुच्छ है, अवर्णवादि है, गुरू द्रोही है। ऐसे शिष्य सुशिष्य नहीं कहलाते हैं।

नेच्छई य सारणाई, सारिज्जंतो अ कुप्पइ स पावो।
उवएसं पि न अरिहइ, दुरे सीसत्तणं तस्स।। 343।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेच्छति च सारणादि सार्यमाणो च कुप्यति सः पापः।
उपदेशं अपि न अर्हति, दूरे शिष्यत्वं तस्य।। 343।।

जो गुरू के द्वारा की जाने वाली सारणादि नहीं चाहता है तथा गुरू द्वारा सारणा दिये जाने पर भी गुरू के प्रति कुपित होता है तो वह पापवान् कहा गया है। ऐसा शिष्य तो दूर से भी गुरू के द्वारा उपदेश देने के योग्य नहीं है।

छंदेण गओ छंदेण, आगओ चिट्ठिओ य छंदेण।
छंदे अवट्टमाणो, सीसो छंदेण मुत्तव्वो।। 344।।
छन्देन गतः छन्देन आगतः स्थितश्च छन्देन।
छन्दे अवर्तमानः, शिष्यः छन्देन मोक्तव्यः।। 344।।

अपनी इच्छा से चला गया, अपनी इच्छा से आ गया, अपनी इच्छा से बैठ गया अर्थात् अपनी इच्छा से चलने वाला शिष्य गुरू के द्वारा त्यागने योग्य है।

नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति।। 345।।
ज्ञानस्य भवति भागी, स्थिरतरकः दर्शने चारित्रे च।
धन्याः यावत्कथया, गुरूकुल वासं न मुंचति।। 345।।

दर्शन और चारित्र में स्थिर बुद्धि शिष्य ज्ञान का भागी (भाजन) बनता है। ऐसा भाग्यशाली सुशिष्य जीवन पर्यन्त गुरू–कुलवास का त्याग नहीं करता है।

पढमं चिय गुरुवयणं, मुम्मुरजलणोव्व दहइ भन्नंतं।
परिणामे पुण तं चिय, मुणालदलसीयलं होइ।। 346।।
प्रथमेव गुरूवचनं, मुर्म्मुर ज्वलनं इव दह्यते भव्यमानं।
परिणामे पुनः तदेव, मृणालदलशीतलं भवति।। 346।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्व प्रथम शिष्य के प्रति कहे गये गुरू के वचन अग्नि के समान दाहक (कटु) लगते हैं। परन्तु परिणाम में ये वचन मृणाल–दल की तरह शीतल होते हैं।

तह सेवंति सउन्ना, गुरुकुलवासं जहा गुरूणं पि।
नित्थारकारणं चिय, पंथगसाहुव्व जायंति।। 347।।
तथा सेवन्ते सपुण्याः, गुरूकुलवासं यथा गुरूणां अपि।
निस्तारकरणं चैव, पंथकसाधुवत् जायन्ते।। 347।।

भाग्यवान् शिष्य ही गुरूकुल में निवास करते हैं तथा ऐसे शिष्य कभी–कभी अमार्ग सेवी गुरू के लिये भी सन्मार्ग में आने का कारण बन जाते हैं। जैसे– पन्थक साधु।

सिरिगोयमाइणी गण–हरा वि नीसेसअइसयसमग्गा।
तब्भवसिद्धीया वि हु, गुरुकुलवासं चिय पवन्ना।। 348।।
श्रीगौतमादयः गणधराऽपि, निःशेषातिशयसमग्राः।
तद्भवसिद्धिकाअपि खलु, गुरू–कुलवासं एव प्रपन्नाः।। 348।।

सम्पूर्ण अतिशयों से युक्त तथा निश्चित ही उसी भव में सिद्धि को प्राप्त करने वाले गौतम आदि गणधरों ने भी गुरूकुल में ही वास किया था।

उज्झियगुरुकुलवासो, एक्को सेवइ अकज्जमविसंको।
तो कूलवालओ इव, भट्ठवओ भमइ भवगहणे।। 349।।
उज्झित–गुरूकुल–वासः, एकाकी सेवते अकार्यमविशङ्कः।
ततः कूलवालकः इव, भ्रष्टव्रतः भ्रमति भवगहने।। 349।।

गुरूकुलवास का त्याग करने पर शिष्य एकाकी होकर अकरणीय कार्य भी निर्भीक होकर करने लग जाता है, जिससे पथ–भ्रष्ट होकर कूलबालक के समान भव भ्रमण के गहन में फँस जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो सोविज्ज गुरुं चिय, मुक्खत्थी मुक्खकारणं पढमं।
आलोएज्ज सुसम्मं, पमायखलियं च तस्संऽतो।। 350।।
ततः सेवेत गुरूमेव, मोक्षार्थी मोक्षकारणम् प्रथमं।
आलोचयेत् सम्यक्, प्रमादस्खलितं च तस्यान्तिके।। 350।।

मोक्षार्थी शिष्य गुरू की सेवा करें, क्योंकि गुरू की सेवा ही मोक्ष का प्रमुख कारण है। प्रमादवश ज्ञानादि में स्खलना हुई हो, उसके लिये सम्यक् प्रकार से गुरू के सान्निध्य में आलोचना करें, अन्यथा गुरू सेवा निष्फल हो जाती है।

6. आलोचना द्वारम्

कस्सालोयण ? आलो–यओ य आलोइयव्वयं चेव।
आलोयणविहिमुवरिं, तद्दोसगुणे य वुच्छामि।। 351।।
कस्यालोचना ? आलोचकः च आलोचितव्यं चैव।
आलोचनविधिमुपरि, तद् दोष–गुणौ च वक्ष्यामि।। 351।।

किस गुरू के समक्ष आलोचना करें ? आलोचक शिष्य कैसा हो ? कौन–कौन से कार्य आलोचना योग्य हैं, आलोचना विधि क्या है ? और उसके दोष और गुण क्या है आगे इसकी चर्चा करेंगे।

आयावरमाहाख, ववहारोऽवीलए पकुव्वे य।
अपरिस्सावी निज्जव, अवायदंसी गुरू भणिओ।। 352।।
आचारवान् आहारवान् व्यवहारवान् अपव्रीड़कः प्रकुर्वकः च।
अपरिश्रावी निर्यापकः, अपाय दर्शी गुरूः भणितः।। 352।।

आठ स्थानों से सम्पन्न अणगार आलोचना देने योग्य होता है।

1. आचारवान्– ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्य इन पांच आचारों से युक्त।

2. आधारवान्– आलोचना लेने वाले के द्वारा आलोच्यमान् समस्त अतिचारों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जानने वाला हो।

3. व्यवहारवान्– आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत इन पांच व्यवहारों का ज्ञाता हो ।

4. अपव्रीडक– आलोचना करने वाले में, वह लाज से मुक्त होकर सम्यक् आलोचना कर सके वैसा, साहस उत्पन्न कराने वाला हो।

5. प्रकुर्वक– आलोचना करने पर विशुद्धि कराने वाला हो।

6. अपरिश्रावी– आलोचना करने वाले के आलोचित दोषों को दूसरे के सामने प्रकट न करने वाला हो।

7. निर्यापक– बड़े प्रायश्चित्त को भी निभा सके ऐसा सहयोग देने वाला हो।

8. अपायदर्शी– प्रायश्चित्त भंग से तथा सम्यक् आलोचना न करने से उत्पन्न दोषों को बताने वाला हो।

आगमसुयआणा–धारणा य जीयं च होइ ववहारो।
केवलमणोहिचउदस–दसनवपुव्वाइं पढमोत्थ।। 353।।
आगम–श्रुत–आज्ञा–धारणा च जीतं च भवति व्यवहारः।
केवलमनोऽवधि चतुर्दश–दशनव पूर्वाणि प्रथमोऽत्र (उच्यते)।। 353।।

आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ये पाँच प्रकार का प्रायश्चित्त विधान व्यवहार कहलाता है। इसमें आगम व्यवहार के अन्तर्गत क्रमशः केवलज्ञानी, मनः पर्यवज्ञानी तथा अवधिज्ञानी, चौदह पूर्वधारी, दश पूर्वधारी और नव पूर्वधारी से आलोचना ग्रहण करनी चाहिये।

कहेहि सव्वं जो वुत्तो, जाणमाणो वि गूहइ।
न तस्स दिंति पच्छित्तं, बिंति अन्नत्थ सोहय।। 354।।
न संभरइ जो दोसे, सब्भावा न य मायओ।
पच्चक्खी साहइ ते उ, माइणो न उ साहई।। 355।।
कथय सर्वं यः उक्तः, ज्ञातमानः अपि निगूहयति।
न तस्य ददति प्रायाश्चित्तं, बुवन्ति अन्यत्र शोधय।। 354।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न स्मरति यः दोषान्, सद्भावनया न च मायया।
प्रत्यक्षी साधयति ते तु, मायाविनः न तु साधयन्ति।। 355।।

केवली सर्व दोषों को जानते हैं, परन्तु यदि आलोचना करने वाला शिष्य माया के द्वारा अपने दोषों को छिपा लेता है तो ऐसे शिष्य को केवली प्रायश्चित्त प्रदान नहीं करते हैं परन्तु दूसरे किसी के समक्ष आलोचना कर लो ऐसा कहते हैं, तथा जो शिष्य अपने दोषों को माया से नहीं छिपाता है अपितु स्वभावतः दोषों का स्मरण नहीं कर पाता है, तो उन दोषों का स्मरण करवा कर केवली प्रायश्चित्त दे देते हैं।

आयारपकप्पाई, सेसं सव्वं सुयं विणिद्दिट्ठं।
देसंतरट्ठियाणं, गूढपयालोयणा आणा।। 356।।
आचारप्रकल्प, शेषं सर्वं श्रुतविनिर्दिष्टं।
देशान्तरस्थितानां, गूढपदालोचना आज्ञा ।। 356।।

आचार प्रकल्प, कल्प व्यवहार, निशीथ स्कन्ध आदि प्रायश्चित्त सम्बन्धी सभी ग्रन्थ श्रुत व्यवहार के अन्तर्गत आते हैं। इस आधार पर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह श्रुत व्यवहार है। दूर देश में रहने वाले शिष्य मूढ़ भाषा में अपने अपराधों को लिखकर गुरू के पास में भेज देते हैं और गुरू भी प्रायश्चित्त लिखकर शिष्य के पास भेज देते हैं इसे आज्ञा व्यवहार कहते हैं।

गीयत्थेणं दिन्नं, सुद्धिं अवधारिऊण तह चेव।
दिंतस्स धारणा सा, उद्धियपयधरणरूवा वा।। 357।।
गीतार्थेन दत्तं, शुद्धिं अवधारयित्वा तथा चैव।
ददतस्य धारणा सा, उद्धितपदधरणरूपा वा।। 357।।

गीतार्थ एवं संविग्न मुनि के द्वारा शिष्य के किसी अपराध के लिये उसकी योग्यता और क्षमता के आधार पर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है और जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य उस प्रायश्चित्त को स्वीकार कर कालान्तर में अन्य व्यक्तियों के जैसे ही अपराधों के लिये भी उसी प्रकार का प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है। पूर्णरूपेण छेदसूत्र आदि के ज्ञाता गुरु के द्वारा शिष्य के प्रति अनुग्रह करके जो कुछ प्रायश्चित्त विधान बताया जाता है तब शिष्य उसको धारण कर उस धारणा के आधार पर प्रायश्चित्त देता है तो वह धारणा व्यवहार कहा जाता है।

दव्वाइ चिंतिऊणं, संघयणाईण हाणिमासज्ज।
पायच्छित्तं जीयं, रूढं वा जं जहिं गच्छे।। 358।।
द्रव्यादीन् चिन्तयित्वा, संहननादीनां हानिमासाद्य।
प्रायश्चित्तं जीतं, रुढं वा यत् यदि गच्छे।। 358।।

शिष्य की योग्यता एवं क्षमता का विचार कर अथवा वर्तमान काल में शिष्यों की शारीरिक क्षमता की हीनता या देशकाल का विचार कर गीतार्थ के द्वारा छेद सूत्रों से कम–अधिक प्रायश्चित्त देना अथवा जिस गच्छ में जिस प्रकार की प्रायश्चित्त व्यवस्था चली आ रही है तदनुरूप प्रायश्चित्त देना जीत व्यवहार है।

अगीओ न वियाणेइ, सोहिं चरणस्स देइ ऊणऽहियं।
तो अप्पाणं आलो--यगं च पाडेइ संसारे।। 359।।
अगीतार्थः न विजानाति, शोधिं चरणस्य ददाति ऊणाधिकम्।
ततः आत्मानं आलोचकं च पातयति संसारे।। 359।।

अगीतार्थ चारित्र शुद्धि की प्रक्रिया को नहीं जानते हैं। इसलिये वे सूत्र में कथित प्रायश्चित्त से कभी कम या कभी अधिक प्रायश्चित्त दे देते हैं। जिससे वे स्वयं एवं आलोचना करने वाले दोनों ही संसार परिभ्रमण में वृद्धि करते हैं।

तम्हा उक्कोसेणं, खित्तम्मि उ सत्तजोयणसयाइं।
काले बारसवरिसा, गीयत्थगवेसणं कुज्जा।। 360।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मात् उत्कर्षेण, क्षेत्रे तु सप्तयोजनशतानि।
काले द्वादशवर्षाणि, गीतार्थगवेषणं कुर्यात्।। 360।।

इसलिये क्षेत्र की अपेक्षा से अधिकतम सात सौ योजन तक, काल की अपेक्षा से अधिकतम बारह वर्षों तक आलोचना करने हेतु गीतार्थ गुरू की खोज करनी चाहिये।

आलोयणपरिणओ, सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासे।
जइ अंतरा वि कालं, करेइ आराहओ तह वि।। 361।।
आलोचनापरिणतः, सम्यक् संप्रस्थितः गुरूसकाशे।
यदि अन्तरा अपि कालं, करोति अनाराधकः तथा–पि।। 361।।

आलोचना करने के लिये सम्यक् प्रकार से तत्पर शिष्य के समीप जाते हुए कदाचित् मार्ग में ही काल कवलित हो जाये तो भी वह आराधक ही माना जाता है।

जाइकुलविणयउवसम–इंदियजयनाणदंसणसमग्गा।
अणणुतावी अमाई, चरणजुयालोयगा भणिया।। 362।।
जातिकुलविनयोपशमइन्द्रियजयज्ञानदर्शनसमग्राः।
अननुत्तापी अमायी, चरणयुतालोचना भणिता।। 362।।

जाति, कुल एवं विनय सम्पन्न, उपशम भाव को प्राप्त, इन्द्रिय--संयम करने वाले, सम्यक् ज्ञान एवं दर्शन चारित्र से युक्त, अविकल चित्त वाले और अमायावी आचार्य ही आलोचना देने के योग्य कहे गये हैं।

मूलुत्तरगुणविसयं, निसेवियं जमिह रागदोसेहिं।
दप्पेण पमाएण व, विहिणाऽऽलोएज्ज तं सव्वं।। 363।।
मूलोत्तरगुणविषयं, निषेविसं यदिह रागद्वेषाभ्यां।
दर्पेण प्रमादेन वा, विधिनाऽऽलोचयेत् तत् सर्वं।। 363।।

मूलगुण एवं उत्तर गुण के वे सभी विषय जिनका राग--द्वेष, दर्प (अभिमान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं प्रमाद से सेवन किया हो फिर चाहे वे सूक्ष्म हो या स्थूल हो विधि पूर्वक आलोचना करने के योग्य है।

चाउम्मासियवरिसे, दायव्वाऽऽलोयणा चउछकन्ना।
संवेयभाविएणं, सव्वं विहिणा कहेयव्वं।। 364।।
चातुर्मासिक–वार्षिके, दातव्या आलोचना चतुर्षट्कर्णा।
संवेग भावितेन, सर्वं विधिना कथयितव्यम्।। 364।।

आराधक शिष्य को तीनों चातुर्मासों की पूर्णिमाओं एवं पर्युषण पर्व (संवत्सरी) पर अवश्य आलोचना करनी चाहिये। वह आलोचना चतुर्कर्ण और षट्कर्ण ऐसी दो प्रकार से होती है। जब शिष्य साक्षात् गुरू के समीप उपस्थित होकर आलोचना करता है वह चतुर्कर्ण आलोचना होती है, क्योंकि इसमें दो कान शिष्य और दो कान गुरू के। यदि अन्य व्यक्तियों के माध्यम से अपने अपराधों की सूचना गुरू को प्रेषित की जाती है और इसके द्वारा निर्देशन आलोचना स्वीकार की जाती है तो वह षट्कर्ण आलोचना होती है। वैराग्य युक्त साधक को अपने सूक्ष्म या स्थूल अपराधों की शास्त्रोक्त विधि से अवश्य आलोचना करनी चाहिये।

जह बालो जंपेतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ।। 365।।
यथा बालः जल्पन्, कार्यमकार्यं च ऋजुकं भणति।
तत् तथा आलोचयेत् मायामदविप्रमुक्तः तु।। 365।।

जिस प्रकार बालक अपने कार्य–अकार्य को सरलता से कहते हैं, उसी प्रकार आराधक को भी माया एवं मद से रहित होकर अपने सम्पूर्ण दोषों की आलोचना करनी चाहिये।

छत्तीसगुणसमन्नागएण तेण वि अवस्स कायव्वा।
परसक्खिया विसोही, सुट्ठुविववहारकुलेणं।। 366।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षट्त्रिंशत्गुणसमन्वागतेन तेनापि अवश्यं कर्तव्या।
परसाक्षिका विशोधि, सुष्ठु अपि व्यवहारकुशलेन।। 366।।

पांच प्रकार के प्रायश्चित्त व्यवहार के विशिष्ट ज्ञाता तथा छत्तीस गुणों से सम्पन्न आचार्य को भी दूसरे आचार्य आदि की साक्षी में आलोचना चारित्र की विशुद्धि हेतु करनी चाहिये। फिर सामान्य आराधक के लिए क्या कहना? अर्थात् उसे तो अवश्य ही आलोचना करनी चाहिये।

जह सुकुसलो वि विज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं।
एवं जाणंतस्स वि, सल्लुद्धरणं परसगासे।। 367।।
यथा सुकुशलः वैद्यः, अन्यस्य कथयति आत्मनः व्याधिं।
एवं जानतः अपि, शल्योद्धरणं परसकाशे।। 367।।

जिस प्रकार चिकित्सा में प्रवीण वैद्य भी अपना रोग दूसरे को बताकर चिकित्सा करवाता है, उसी प्रकार चारित्र की शुद्धि के ज्ञाता आचार्य को भी दूसरे आचार्य आदि के पास जाकर अपने शल्य का उद्धरण करवाना चाहिये अर्थात् अपने अपराध की शुद्धि करवानी चाहिये।

अप्पं पि भावसल्लं, अणुद्धियं रायवणियतणएहिं।
जायं कडुयविवागं, किं पुण बहुयाइं पावाइं ?।। 368।।
अल्पमपि भावशल्यं, अनुद्घतं राजवणिक–तनयाभ्यां।
जातं कटुकविपाकं, किं पुनः वहूनि पापानि।। 368।।

राजपुत्र आर्द्रकुमार एवं वणिक्पुत्र, इलाचीकुमार द्वारा अल्प मात्रा वाला भाव शल्य अर्थात् छोटा सा अपराध गुरू के सन्मुख निवेदन न करने के कारण उन्हें क्रमशः जीवघात तथा मृषावाद के कटुपरिणाम रूप दारूण दुःख प्राप्त हुआ, तो यदि बडे अपराधों की आलोचना न करने पर कितना कटु परिणाम भुगतना होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लज्जाए गारवेण व, बहुस्सुयमएण वा वि दुच्चरियं।
जे न कहंति गुरूणं, न हु ते आराहगा हुंति।। 369।।
लज्जया गौरवेन च, बहुश्रुतमदेन वापि दुश्चरितं।
ये न कथयन्ति गुरूणां, न खलु ते आराधकाः भवन्ति।। 369।।

लज्जा के कारण स्वयं के गर्व (अहंकार) के कारण अथवा अपने बहुश्रुत के मद के कारण जो शिष्य अपने दुश्चरित्र को गुरू के सम्मुख नहीं बताता है, वह वास्तव में आराधक नहीं है।

न वि तं सत्थं व विसं, दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जं कुणइ भावस्सलं, अणुद्धियं सव्वदुहमूलं।। 370।।
नापि तत् शात्रं विषं वा, दुष्प्रयुक्तः वा करोति बेतालः।
यद् करोति भावशल्यं, अनुद्धरितं सर्वदुःखमूलं।। 370।।

शस्त्र, विष एवं कुपित वेताल (व्यन्तर भूतप्रतादि) भी जितना दुःख नहीं देते उससे अधिक दुःख भावशल्य देते हैं, क्योंकि भावशल्य ही सभी दुःखों का मूल है।

आकंपइत्ता अणुमाणइत्ता, जं दिट्ठं बायरं व सुहुमं वा।
छन्नं सद्दालुयं, बहुजण अव्वत्ततस्सेवी।। 371।।
आकम्पयिता अनुमानयिता, यत् दिष्टं वादरं वा सूक्ष्मं वा।
छन्नं शब्दाकुलं, बहुजनाव्यक्तंतत्–सेवी।। 371।।

गुरू मुझे अल्प प्रायश्चित्त देगें, ऐसा सोचकर जो गुरू की सेवा भक्ति करता है वह आवर्ज्या लोचन दोष है। इसी प्रकार यदि साधक बड़े अपराध की आलोचना करता है और सूक्ष्म अपराध की आलोचना नहीं करता है यह प्रच्छन्न आलोचना है। लज्जादि कारण से जब बहुत लोग आलोचना कर रहें हो तब अव्यक्त रूप से अपनी बात कह देना यह अव्यक्तालोचना दोष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एयद्दोसविमुक्कं, पइसमयं वड्ढमाणसंवेगो।
आलोएज्ज अकज्जं,न पुणो काहंति निच्छइओ।। 372।।
एतत्दोष–विमुक्तं, प्रतिसमयं वर्धमान–संवेगः।
आलोचयेत् अकार्यं, न पुनः कथयन्ति निश्चयः।। 372।।

साधक दोषों का परित्याग करके प्रति समय संवेग अर्थात् वैराग्य भाव की वृद्धि करते हुए और पुनः 'ऐसा अपराध नहीं करूँगा' यह दृढ़ निश्चय करके अपने अपराधों की आलोचना करे, अन्यथा उसकी आराधना व्यर्थ हो जायेगी।

जो भणइ नत्थि इण्हिं, पच्छित्तं तस्स दायगा वा वि।
सो कुव्वइ संसारं, जम्हा सुत्ते विणिद्दिट्ठं।। 373।।
यः भणति नास्ति इदानीम् प्रायश्चित्तं तस्य दायका वा अपि।
सः करोति संसारम्, यस्मात् सूत्रे विनिर्दिष्टम्।। 373।।

जो यह कहता है कि अब प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थों का अभाव है एवं प्रायश्चित्त देने वाले गीतार्थ भी नहीं है, ऐसा उन्मार्गी अपने संसार भ्रमण में अभिवृद्धि करता है। ऐसा छेद शास्त्रों में कहा गया है।

सव्वंपि य पच्छित्तं नवमे पुव्वम्मि तइयवत्थुम्मि।
तत्तो वि य निज्जूढा, कप्पकप्पो य ववहारो।। 374।।
सर्वमपि च प्रायश्चितं, नवमे पूर्वे तृतीयवस्तुनि।
ततोऽपि च निर्व्यूढा, कल्पःप्रकल्पो च व्यवहारः।। 374।।

सभी प्रायश्चित्तों का विधान नवमें पूर्व के अन्तर्गत तृतीय वस्तु में किया गया था। उसी कल्प सूत्र, आचार प्रकल्प सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध) और व्यवहार सूत्र का उद्धरण किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ते वि य धरंति अज्जवि तेसु धरंतेसु कह तुमं भणसि?।
वोच्छिन्नं पच्छित्तं तद्दायारो य जा तित्थं।। 375।।
तेऽपि च धरन्ति अद्यापि, तेषु धरत्सु कथं त्वं भणसि ?
व्यवच्छिन्नं प्रायश्चित्तं, तत् दातारः च यावत् तीर्थं।। 375।।

वे कल्पसूत्र आदि आज भी विद्यमान है। उनके रहते हुये ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि प्रायश्चित्त प्रतिपादक ग्रन्थ एवं गीतार्थ नहीं है। प्रायश्चित्त व्यवस्था तो तब तक रहेगी जब तक तीर्थ रहेगा, क्योंकि प्रायश्चित्त व्यवस्था के व्यवछिन्न होने पर तो तीर्थ भी व्यवछिन्न हो जायेगा। आगम में कहा गया है कि संघव्यस्था तो दुराप्रसहाचार्य–पर्यन्त रहेगी।

कयपावो वि मणूसो, आलोइयनिंदिउं गुरुसगासे।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरियभरुव्व भारवहो।। 376।।
कृतपापोऽपि मानुषः, आलोच्य निन्दित्वा गुरूसकाशे।
भवति अतिरेकलघुकः, अपहृतभरः भारवहइव।। 376।।

पाप करने वाला व्यक्ति भी गुरू के समक्ष अपने पापों की आलोचना करके वैसे ही अत्यन्त हल्का हो जाता है जैसे सिर पर से भार के उतर जाने से भारवाहक हल्का हो जाता है।

निट्ठवियपावपंका, सम्मं आलोइउं गुरुसगासे।
पत्ता अणंतजीवा, सासयसुक्खं अणावाहं।। 377।।
क्षपितपापपङ्काः, सम्यक् आलोच्य गुरूसकाशे।
प्राप्ता अनन्तजीवाः, शाश्वतसुखं अनाबाधिं।। 377।।

गुरू के समक्ष अपने अपराधों को कहकर सम्यक् आलोचना पूर्वक पाप रुपी कीचड़ से निकल कर अनन्त जीव अनाबाध शाश्वत सुख अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त हुये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. भवविरागद्वारम्

एवं विसुद्धचरणो, सम्मं विरमेज्ज भवसरूवाओ।
नरगाइसेयभिन्ने, नत्थि सुहं जेण संसारे।। 378।।
एवं विशुद्धचरणः, सम्यक् विरमेत भवस्वरूपात्।
नरकादिभेदभिन्ने, नास्ति सुखं येन संसारे।। 378।।

इस प्रकार विधि द्वारा प्रायश्चित्त करके सम्यक् रूप से वैराग्य को प्राप्त होकर, विशुद्ध चारित्र का पालन कर, मुक्ति को प्राप्त हो जाये, क्योंकि इस संसार में नरक आदि अनेक ऐसे दुःख पूर्ण स्थल है। इस संसार में कहीं भी सुख नहीं है। अतः आलोचना करने के पश्चात् भव भ्रमण से विराग आवश्यक है।

दीहं सुसंति कलुणं, भणंति विरसं रसंति दुक्खत्ता।
नेरइया अवरोप्पर–सुरखित्तसमुत्थवियणाहिं।। 379।।
दीर्घं श्वसन्ति कलुणं, भणन्ति विरसं रसन्ति दुःखार्ताः।
नेरयिकाः परस्पर–सुरक्षेत्रसमुत्थवेदनाभिः।। 379।।

नारकीय जीव गहरी निःश्वास छोड़ते हैं, दीन वचन बोलते हैं और क्रन्दन करते हैं अर्थात् कराहते रहते हैं परस्पर तथा परमधामी देवों और क्षत्रीय द्वारा दी जाने वाली वेदना ऐसी त्रिविध यातना उनके द्वारा सदैव भोगी जाती है।

जं नारयाण दुक्खं, उक्कतणदहणच्छिंदणाईयं।
तं वरिससहस्से हि वि, न भणेज्ज सहस्सवयणो वि।। 380।।
यन्नारकानां दुःखं, उत्कर्तन दहनछेदनादिकं।
तत् वर्षसहस्रैः अपि, न भणेत् सहस्रवदनोऽपि।। 380।।

उन नारकीय जीवों का काटा जाना, जलाना और छेदा जाना आदि अनेक प्रकार के दुःखों का वर्णन इन्द्र आदि भी हजारों वर्षों तक भी पूर्णरूप से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं कह सकते। नारकीय जीवों के दुःख तो केवली गम्य ही है।

सीउण्हखुप्पिवासा–दहणंकणवाहदोहदुक्खेहिं।
दूमिज्जंति तिरिक्खा, जह तं लोए वि पच्चक्खं।। 381।।
शीतोष्ण–क्षुत्पिपासा–दहनकणवाहदोहदुःखैः।
दूयन्ते तिर्यंचो, यथा तत् लोकेऽपि प्रत्यक्षम्।। 381।।

तिर्यंच प्राणी शीत (ठंड) उष्ण (गर्मी) क्षुधा (भूख) प्यास अग्निदाह, भारवाहन, दुग्ध दोहन आदि से प्राप्त होने वाले दुःखों से सदैव दुःखी होते हैं, जो प्रत्यक्ष ही दिखाई देता है यह लोक प्रसिद्ध भी है।

लच्छी पिम्मं विसया, देहो मणुयत्तणे वि लोयस्स।
एयाइं वल्लहाइं, ताणं पुण एस परिणामो।। 382।।
लक्ष्मीः प्रेम विषयाः, देहः मनुजत्वेऽपि लोके।
एतानि वल्लभानि, तेषां पुनरेव एषः परिणामः।। 382।।

धन, स्वजनों का प्रेम, शब्द आदि ऐन्द्रिय विषय और मानव शरीर ये सभी सुख दायक प्रतीत होते हैं, लेकिन इनका परिणाम सुखद नहीं होता हैं।

न भवइ पत्थंताण वि, जायइ कइया वि कहवि एमेव।
विहडइ पिच्छंताण वि, खणेण लच्छी कुमहिलव्व।। 383।।
न भवति प्रार्थयमाणानामपि, जायते कदाचिदपि कथमपि एवमेव।
विघटते पश्यताम् अपि, क्षणेन लक्ष्मी कुमहिला इव।। 383।।

क्योंकि दुष्चरित्र महिला के समान यह लक्ष्मी मनुष्यों द्वारा प्रार्थना करने पर भी सदैव उनकी होकर नहीं रह रहती है। कदाचित् प्रार्थना करने पर आ भी जाये तो देखते ही देखते दुष्चरित्र नारी के समान उसके पास से अल्प समय में ही चली जाती है। यही कारण है कि इस लक्ष्मी को चंचला कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जह सलिला वड्ढंति, कूलं पाडेइ कलुसए अप्पं।
इह विहवे वड्ढंते, पायं पुरिसो वि दट्ठवो।। 384।।
यथा सलिला वर्धन्ती, कूं–लंपातयन्ती कलुषयति आत्मानं।
इह विभवे वर्धमाने प्रायः पुरूषः अपि दृष्टव्यः।। 384।।

जिस प्रकार नदी वर्षा ऋतु में प्रचुर जल प्रवाह से बहती हुयी अपने ही किनारों को तोड़ती है तथा बाढ़ में आये हुये अपवित्र पदार्थों को ग्रहण कर स्वतः कलुषित हो जाती है, उसी प्रकार मनुष्य भी ऐश्वर्य के बढने पर नदी के समान ही स्वजनादि का ही अहित करता है तथा स्वयं को भी कलुषित कर लेता है।

होऊण वि कह वि निरं–तराइं दूरतंराइं जायंति।
उम्मोइयरसणंऽतो–वमाइं पेम्माइं लोयस्स।। 385।।
भूत्वा अपि कथंमपि निरन्तराणि दुरंतराणि जायन्ते।
उन्मोचितासनान्तोपमानि प्रेमाणि लोकस्य।। 385।।

जिस प्रकार कमर में बांधे हुए कटि सूत्र के दोनों छोर (किनारे) परस्पर मिल जाते हैं और कटि से अलग होने पर दोनों छोर अलग हो जाते हैं उसी प्रकार संसार में स्वजनों का अत्यन्त स्नेह भी स्वार्थवश बना रहता है, किन्तु स्वार्थ के अभाव में किन्हीं कारणों से कम होता हुआ अन्त में समाप्त हो जाता है।

माइपिइबंधुभज्जा–सुएसु पेम्मं जणम्मि सविसेसं।
चुलणीकहाए तं पुण, कणगरहविचिट्ठिएणं च।। 386।।
तह भरहनिबइभज्जा–असोगचंदाइचरियसवणेणं।
अइविरसं चिय नज्जइ, विचिट्ठियं मूढहिययाणं।। 387।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मातृपितृवन्धु–भार्यासुतेषु प्रेम जने सविशेषम्।
चुलणीकथया तत् पुनः कनकरथविचेष्टितेन च।। 386।।
तथा भरतनृपितिभार्या अशोकचन्द्रादिचरितश्रवणेन।
अतिविरसं चैव निश्चीयते विचेष्टितं मूढ़हृदयानां।। 387।।

व्यक्ति का माता–पिता, भाइ–भार्या, (पत्नी) पुत्र आदि परिजनों पर विशेष अनुराग होता है, यह जानता हूँ। परन्तु अन्तिम समय में यही अनुराग निर्वेद जनक होता है। चुलनी के दृष्टान्त से मातृ प्रेम कनकरथ के दृष्टान्त से पितृस्नेह, भरत के चरित्र श्रवण से, भ्रातृप्रेम, प्रदेशीराजा के चरित्र श्रवण से, भार्या प्रेम, एवं अशोकचन्द्र कुणिक के चरित्र के श्रवण से पुत्र स्नेह की निरर्थकता ही सिद्ध होती है। प्रारम्भ में सभी आनन्ददायी प्रतीत होते हुये भी, अन्त में इनकी निस्सारता ही प्रकट हुई।

होंति मुहेच्चिय महुरा, विसया किंपागभूरुहफलं व।
परिणामे पुण तेच्चिय, नारयजलणिंधणं मुणसु।। 388।।
भवन्ति मुखएव मधुरा, विषया किंपाकभूरूहफलवत्।
परिणामे पुनः ते एव, नारक ज्वलनेन्धनं जानीहि।। 388।।

शब्दादि विषय पहले तो किंपाक फल की तरह मधुर लगते हैं परन्तु परिणाम में इन विषयों के दारुण स्वरुप को नारकीय अग्नि का इंधन ही जानो।

विसयावेक्खो निवडइ, निरवेक्खो तरइ दुत्तरभवोहं।
जिणवीरविणिद्दिट्ठो, दिट्ठं तो बंधुजुयलेणं।। 389।।
विषयापेक्षः निपतति, निरपेक्षः तरति दुस्तरंभवौघं।
जिनवीरविनिर्दिष्टः, दृष्टं तत् वन्धुयुगलेन।। 389।।

विषयाभिलाषी इस विषय रूपी संसार सागर में डूब जाता है जबकि इन विषयों से विरक्त होने वाला व्यक्ति इस दुस्तर सागर से तर जाता है इसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीर जिणन्द द्वारा निर्दिष्ट बन्धु युगल के दृष्टान्त से जाने।

आहारगंधमल्ला–इएहिं सुअलंकिओ सुपुट्ठो वि।
देहो न सुई न थिरो, विहडइ सहसा कुमित्तोव्वं।। 390।।

आहारगन्धमालादिभिः, सुअलङ्कृतः सुपुष्टोऽपि।
देहः न शुचिः न स्थिरः विघटते सहसा कुमित्रमिव।। 390।।

सुस्वादु भोजन, सुगन्धित, पुष्प, आहार आदि से अलंकृत परिपुष्ट शरीर न तो पवित्र होता है और न उसकी यह सुन्दरता या पवित्रता स्थायी ही रहती है, अपितु कुमित्र के समान शीघ्र क्षीण होने लगती है।

तम्हा दारिद्दजरा–परपरिभवरोगसोगतवियाणं।
मणुयाण वि नत्थि सुहं, दविणपिवासाइनडियाणं।। 391।।

तस्मात् दरिद्र्य जरा–परपरिभवरोगशोकतप्तानां।
मनुष्याणामपि नास्ति सुखं, द्रविणपिपासादिनटितानां।। 391।।

इसलिये दरिद्र्य (गरीबी), वृद्धत्व और रोग–शोक से संतप्त मानवों को कहीं भी सुख नहीं है। वे व्यर्थ ही तृष्णा के अधीन होकर धन की प्राप्ति हेतु अनेक प्रकार के अभिनय करते रहते हैं।

सच्चं सुराण विहवो, अणुत्तरो रयणरइयभवणेसु।
दिव्वाहरणविलेवण–वरकमिणिनाडयरयाणं।। 392।।

सत्यं सुराणाम् विभवः अनुत्तरः रत्नरचितभवनेषु।
दिव्याभरणाविलेपनवरकामिनीनाटकरतानाम्।। 392।।

यह सत्य है कि देवताओं को रत्न जडित भवनों में रहते हुए दिव्य वस्त्रालंकार, विलेपन, अप्सराएं एवं आमोद–प्रमोद के विपुल साधन रूप नाटकादि उपलब्ध है और उनमें रहते हुये वे सुख का अनुभव करते हैं।

किंतु मयमाणमच्छर–विसायईसानलेण संतत्ता।
तेऽवि वइऊण तत्तो, भमंति केई भवमणंतं।। 393।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किंतु मदमानमत्सरविषादेर्ष्यानलेन सन्तप्ताः।
तेऽपि च्युत्वा तत्तः भ्रमन्ति केचित् भवमनन्तम्।। 393।।

परन्तु अभिमान, मात्सर्य, विषाद, जलनरूप अग्नि से संतप्त होकर, स्वर्ग से पतित होकर, कुछ देवता अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करते रहते हैं।

तम्हा सुहं सुराणवि, न किंपि अहवा इमाइं सुक्खाइं।
अवसाण दारुणाइं, अणंतसोपत्तपुव्वाइं।। 394।।
तस्मात् सुखं सुराणामपि, न किमपि अथवा इमानि सुखानि।
अवसानदारूणानि, अनन्तशः च प्राप्तपूर्वाणि।। 394।।

ये भौतिक सुख दोनों के लिये भी सुखदायी नहीं है अथवा ये इन्द्रिय सुखादि परिणाम में दारूण दुःख देने वाले ही होते हैं। ये सभी पूर्व में भी अनन्त बार प्राप्त हुये हैं किन्तु अन्त में इनको दारूण कष्ट ही प्राप्त हुआ है।

तं नत्थि किं पि ठाणं, लोए वालग्गकोडिमित्तं पि।
जत्थ न जीवा बहुसो, सुहदुक्खपरंपरं पत्ता।। 395।।
तद् नास्ति किमपि स्थानं, लोके वालाग्रकोटिमात्रमपि।
यत्र न सर्वे जीवाः बहुशः सुखदुःखपरम्परां प्राप्ता।। 395।।

ऐसा कोई स्थान नहीं है इस लोक में जहाँ पर अनेक जीव अनन्त बार इस सुख–दुःख की परम्परा को प्राप्त नहीं हुये हो।

सव्वा अवि रिद्धीओ, पत्ता सव्वे वि सयणसंबंधा।
संसारे तो विरमसु, तत्तो जइ मुणसि अप्पाणं।। 396।।
सर्वाः अपि ऋद्धयः प्राप्ता सर्वेऽपि स्वजनसम्बन्धाः।
संसारे ततः विरमस्व, तत्वतः यदि जानासि आत्मानं।। 396।।

यदि यह जानते हो कि आत्मा संसार से भिन्न है तो सभी ऐश्वर्य आदि एवं सभी स्वजनों के सम्बन्ध से विरक्त हो जाओ।

इति श्री पुष्पमाला विवरणे भावना द्वारे भव विराग लक्षणं प्रतिद्वारं समाप्तम्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8. विनयद्वारम्

इय भवविरत्तचित्तो, विसुद्धचरणाइगुणजुओ निच्चं।
विणए रमेज्ज सच्चे, जेण गुणा निम्मला हुंति।। 397।।
इत्थं (इति) भवविरक्त चित्तः, विशुद्धचरणादिगुणयुक्तः नित्यं।
विनये रमेत सत्ये, येन गुणाः निर्मलाः भवन्ति।। 397।।

इस प्रकार इस भव में विरक्त चित्त वाले होकर एवं गुण से युक्त होकर नित्य विनय गुण में रमण करें, जिससे सभी आत्मिक गुण निर्मल हो जायेंगे।

जम्हा विणयइ कम्मं, अट्ठविहं चाउरंतमोक्खाए।
तम्हा उ वयंति विऊ, विणओ त्ति विलीणसंसारा।। 398।।
यस्मात् विनयति कर्म, अष्टविधं चातुरन्तमोक्षादि।
तस्मात् तु वदन्ति विदः, विनयः इति विलीनसंसाराः।। 398।।

जिस विनय से अष्टविध कर्मों का क्षय कर चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण नहीं हो उसे ही तीर्थंकरों ने वास्तविक विनय कहा है।

लोगोवयारविणओ, अत्थे कामे भयम्मि मुक्खे य।
विणओ पंचवयिप्पो, अहिगारो मुक्खविणएणं।। 399।।
लोकोपचार विनयः अर्थे, कामे, भये, मोक्षे च।
विनयः पंचविकल्पः, अधिकारः मोक्षविनयेन।। 399।।

लोकव्यवहार (औपचारिक) विनय, अर्थ प्राप्ति हेतु किया गया विनय, काम–भोग हेतु किया गया विनय, भयवश किया गया विनय और मोक्ष प्राप्ति हेतु किये जाने वाला विनय ये विनय के पांच प्रकार है इसमें मोक्ष विनय ही सर्वोपरि है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दंसणनाणचरित्ते, तवे य तह ओवयारिए चेव।
मोक्खविणओ वि एसो, पंचविहो होइ नायव्वो।। 400।।
दर्शनज्ञानचारित्रे, तपे च तथा औपचारिके चैव।
मोक्षविनयः अपि एवः पंचविधः भवति ज्ञातव्यः।। 400।।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, और औपचारिकता के भेद से मोक्षविनय भी पांच प्रकार का है।

दव्वाइसद्दहंतो, नाणेण कुणंतयस्स किच्चाइं।
चरणं तवं च सम्मं, कुणमाणे होइ तव्विणओ।। 401।।
द्रव्यादिश्रद्दधतो, ज्ञानेन कुर्वतःयस्य कृत्यानि।
चरणं तपः च सम्यक् क्रियमाणे भवति तपः विनयः।। 401।।

द्रव्य–क्षेत्र, काल एवं भाव अर्थात् वस्तु की पर्यायों में सिद्धान्त नीति द्वारा प्रकट किया गया श्रद्धा–भाव दर्शन विनय है। सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति हेतु संयमादि कृत्यों का निर्वाहन ज्ञान विनय है। चारित्र और तप का सम्यक्रूप से पालन जिनाज्ञानुसार करना चारित्र विनय है तथा विविध तपों का समाचरण तप विनय कहलाता है।

अह ओवयारिओ उण, दुविहो विणओ समासओहोइ।
पडिरूवजोगणजुंजण, तह य अणासायणाविणओ।। 402।।
अथ औपचारिकः पुनः, द्विविधः विनयः समासतः भवति।
प्रतिरूपयोगयोजनं, तथा च अनाशातनाविनयः।। 402।।

यह औपचारिक विनय संक्षेप में दो प्रकार की है – 1. प्रतिरूपयोग योजन विनय एवं 2. अनाशतना विनय।

पडिरूओ खलुविणओ, काइयजोगे य वायमाणसिओ।
अट्ठचउव्विहदुविहो, परूवणा तस्सिमा होइ।। 403।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिरूपो खलु विनयः, कायिक योगे च वाक्मानसिकौ।
अष्टचतुर्विद्विविधः, प्ररूपणा तस्य इयं भवति।। 403।।

प्रतिरूपयोगयोजन विनय निश्चय ही 1. काय योग विषयक 2. वाक्योग विषयक 3. मनोयोग विषयक 4. काययोग–वाक्योग विषयक 5. काययोग–मनोयोग विषयक 6. वाक्–मनोयोग विषयक 7. वाक्–काययोग विषयक 8. कायवाक्–मनोयोग विषयक– इस प्रकार योगयोजन विनय क्रमशः आठ, चार एवं दो प्रकार का है जिसका विवेचन क्रमशः किया जायेगा।

अब्भुट्ठाणं अंजलि, आसणदाणं अभिग्गहं किई य।
सुस्सूसण अणुगच्छण, संसाहण कायअट्ठविहो।। 404।।
अभ्युत्थानं अंजलिः, आसनदानं अभिग्रहः कृति च।
सुश्रुषणं अनुगमनं, संसाधनं कायाष्टविधः।। 404।।

साधु आदि के आगमन पर खडे होना, गुरू से हाथ जोडकर प्रश्न पूँछना, श्रुतज्ञानी और साधुओं के लिये आसन प्रदान करना, गुरू की आज्ञा को स्वीकार करना श्रुत श्रवण एवं वन्दन करना, गुरू आदि की सेवा करना, आये हुये गुरू के सन्मुख जाना, जाते हुये गुरू के पीछे–पीछे चलना ये आठ प्रकार के कायिक विनय है।

हियमियअफरुसवाई, अणुवीईभासि विणओ।
अकुसलमणो निरोहो, कुसलमणोदीरणं चेव।। 405।।
हितमितापरूषवादी, अनुवीत–भाषी वाचिकः विनयः।
अकुशलमनसो निरोधः, कुशलमनोदीरणं चैव।। 405।।

जिनके परिणाम सुन्दर हो ऐसे हितकारी वचन बोलना, मित बोलना, अनिष्ठुर वचन बोलना और स्व आलोचित बोलना यह चार प्रकार का वाचिक विनय है। आर्त्तध्यान में लगे हुये मन को रोकना एवं धर्म–ध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि में लगे हुये मन का प्रवर्तन ये दो मनोयोग है।

पडिरूवो खलु विणओ, पराणुवित्तिमइओ मुणेयव्वो।
अप्पडिरूवो विणओ, नायव्वो केवलीणं तु।। 406।।
प्रतिरूपः खलु विनयः परानुवृत्यात्मकः ज्ञातव्यः।
अप्रतिरूपः विनयः ज्ञातव्यः केवलीनां तु।। 406।।

उचित विनय को वास्तव में परानुवृत्यात्मक जानना चाहिये, अपरानुवृत्यात्मक विनय को केवली के लिये ही जानना चाहिये। प्रतिरूप विनय छद्मस्थों का होता है।

एसो मे परिकहिओ, विणओ पडिरूवलक्खणो तिविहो।
बावन्नविहिविहाणं, बिंति अणासायणाविणयं।। 407।।
एषः भवतां परिकथितः, विनयः प्रतिरूपलक्षणः त्रिविधः।
द्वापंचाशत्विधिविधानं, ब्रुवते अनाशातना विनयम्।। 407।।

तीर्थंकरों एवं गणधरों के द्वारा यह परिकथित प्रतिरूप लक्षण विनय तीन प्रकार का कहा गया है और अनाशातना विनय बावन प्रकार का कहा गया है।

तित्थयरसिद्धकुलगण–संघकिरियधम्मनाणनाणीणं।
आयरियथेरुवज्झाय–गणीणं तेरस पयाणि।। 408।।
तीर्थंकरसिद्धकुलगणसंघक्रियाधर्मज्ञान ज्ञानिणाम्।
आचरिता स्थिरोपाध्यायगणीनां त्रयोदश पदानि।। 408।।

तीर्थंकर, सिद्ध, नागेन्द्रादि कुल कौटिकादिगण, संघ, क्रियावादी यतिगण धर्म, मति आदि पांच ज्ञान और इन सबके ज्ञाता ज्ञानी आचार्य, उपाध्याय और स्थविर (गीतार्थ) ये तेरह पद हैं।

अणासायणा य भत्ती, बहूमाणो तह य वन्नसंजलणा।
तित्थयराई तेरस चउग्गुणा होंति बावन्ना।। 409।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनाशातना चभक्तिः, बहुमानः तथा च वर्णसंज्वलना।
तीर्थंकरादयः त्रयोदशाः, चतुर्गुणा भवन्ति द्विपंचाशत्।। 409।।

अनाशातना, भक्तिः, बहुमान वर्ण संज्वलना इन चार का तीर्थंकर आदि तेरह पदों से गुणा करने पर अनाशातना विनय के बावन भेद होते हैं।

अमयसमो नत्थि रसो, न तरू कप्पद्दुमेण परितुल्लो।
विणयसमो नत्थि गुणो, न मणी चिंतामणिसरिच्छो।। 410।।

अमृतसमो नास्ति रसः, न तरूः कल्पद्रुमेण परितुल्यः।
विनय समो नास्ति गुणः, न मणिः चिन्तामणिसदृशः।। 410।।

जैसे अमृत (सुधा) के समान कोई (अन्य) रस नहीं है, कल्पवृक्ष के समान कोई अन्य वृक्ष नहीं है और मणियों में चिन्तामणि के समान अन्य कोई मणि नहीं है इसी प्रकार विनय (गुण) के समान अन्य कोई गुण नहीं है।

चंदणतरूण गंधो, जुण्हा ससिणो सियत्तणं संखे।
सह निम्मियाइं विहिणा, विणओ य कुलप्पसूयाणं।। 411।।

चन्दनतरूणां गन्धः, ज्योत्स्ना शशिनः श्वेतत्वं शंखे।
सह निर्मितानि विधिना, विनयश्च कुलप्रसूतानाम्।। 411।।

जैसे – चन्दन के वृक्षों में गन्ध, चन्द्रमा में चांदनी और शंख में श्वेतता उनके साथ (उनकी उत्पत्ति के समय से ही) अभिन्न नहीं होती उसी प्रकार विनय उत्तम कुल में उत्पन्न हो जाता है अर्थात् उनके साथ अभिन्न रूप से रहता है।

होज्ज असज्झं मन्ने, मणिमंतोसहिसुराण वि जयम्मि।
नत्थि असज्झं कज्जं, किंपि विणीयाण पुरिसाणं।। 412।।

भवेत् असाध्यं मन्ये, मणिमन्त्रौषधिसुराणां अपि जगति।
नास्ति असाध्यं कार्य, किमपि विनीतानांपुरूषाणाम्।। 412।।

सामान्यतया मणि, मन्त्र, औषधि और देवों के लिये कोई भी कार्य असाध्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होता है, फिर भी उनके लिये इस संसार में कोई कार्य असाध्य हो सकता है परन्तु विनयशील पुरूषों के लिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं है। विनयशीलता का गुण तो स्वर्ग और अपवर्ग को भी प्राप्त करवा सकता है।

इह लोएच्चिय विणओ, कुणइ विणीयाण इच्छियं लच्छिं।
जह सीहरहाईणं, सुगइनिमित्तं च परलोए।। 413।।
इह लोके एव विनयः, करोति विनीतानां इप्सितां लक्ष्मीं।
यथा सिंहरथादीनां, सुगतिनिमित्तं च परलोके।। 413।।

इस लोक में विनयशील पुरूष विनय के कारण इच्छित लक्ष्मी (ऐश्वर्य) को प्राप्त कर सकता है। जैसे– यह विनय गुण सिंहरथ आदि के लिए सुगति का हेतु सिद्ध हुआ।

किं बहुणा ? विणओच्चिय, अमूलमंतं जए वसीकरणं।
इहलोयपारलोइय–सुहाण वंछियफलाण।। 414।।
किं बहुना ? विनयः एव, अमूलमन्त्रं जगति वशीकरणं।
इहलोकपारलौकिक सुखानां वांछितफलानां।। 414।।

विनय के सम्बन्ध में क्या कहे, विनय तो अमूल्य मंत्र है जो जगत् के लिये परम वशीकरण रूप है। विनय से ही इहलौकिक और पारलौकिक सुख एवम् इच्छित फल की प्राप्ति संभव है।

9. वैयावृत्यद्वारम्

विणयविसेसो य तहा, आयरियगिलाणसेहमाईणं।
दसविहवेयावच्चं, करिज्ज समए जओ भणियं।। 415।।
विनयविशेषः च तथा, आचार्यग्लानशैक्षकादीनाम्।
दशविध वैयावृत्यं कुर्याः समये यतः भणितं।। 415।।

विनय के साथ–साथ शिष्य को आचार्य, ग्लान, शैक्ष आदि की दस प्रकार की वैयावृत्य भी करनी चाहिये ऐसा सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भरहेरवयविदेह, पन्नरस वि कम्मभूमिगा साहू।
इक्कम्मि (वि) पूइयम्मि, सव्वे (वि) ते पूइया हुंति।। 416।।
भरतैरवतविदेहेषु, पंचदश अपि कर्मभूमिगा साधवः।
एकस्मिन् अपि पूजिते, सर्वेऽपि ते पूजिताः भवन्ति।। 416।।

भरत, ऐरावत, विदेह आदि पन्द्रह कर्मभूमि में निवास करने वाले साधुजनों में से यदि एक भी साधु पूजा जाता है तो सभी साधु पूजित हो जाते हैं।

एक्कम्मि हीलियम्मि वि, सव्वे ते हीलिया मुणेयव्वा।
नाणाईण गुणाणं, सव्वत्थ वि तुल्लभावाओ।। 417।।
एकस्मिन् हीलितेऽपि, सर्वे ते हीलिताः ज्ञातव्याः।
ज्ञानादिगुणानां, सर्वत्र अपि तुल्यभावात्।। 417।।

इसी प्रकार एक साधु की अवहेलना से सभी साधुओं की अवहेलना जानना चाहिये, क्योंकि वे सभी सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अपेक्षा से समान है।

तम्हा जइ एस गुणो, साहूणं भत्तपाणमाईहिं।
कुज्जा वेयावच्चं, धणयसुओ रायतणउव्व। 418।।
तस्मात् यदि एष गुणः साधूनां भक्तपानादिभिः।
कुर्याः वैयावृत्यं, धनदसुत राजतनय इव।। 418।।

जैसे– एक साधु की पूजा करने से समस्त साधुओं की पूजा का लाभ मिल जाता है, उसी प्रकार एक साधु की वैयावृत्य से सभी साधुओं की भक्त–पान आदि के द्वारा की गई वैयावृत्य का लाभ मिल जाता है। अतः साधुओं की भक्त–पान आदि के द्वारा वैयावृत्य अवश्य करनी चाहिये जैसे– धनराज राजकुमार ने वैयावृत्य की थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेयावच्चं नियय, करेह उत्तमगुणे धरंताणं।
सव्वं किर पडिवाई, वेयावच्चं अपडिवाई।। 419।।
वैयावृत्यं नियतं, कुरूत उत्तम–गुणे धरन्तानाम्।
सर्वं किल प्रतिपाति, वैयवृत्यं अप्रतिपाति।। 419।।

ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न साधुओं की अवश्य ही सेवा करनी चाहिए। चारित्र श्रुतज्ञानादि से गुण पतनशील है अर्थात् उनसे व्यक्ति च्युत् हो सकता है परन्तु सेवा का गुण अप्रतिपाति है।

पडिभग्गस्स मयस्स व, नासइ चरणं सुयं अगुणणाए।
न हु वेयावच्चकयं, सुहोदयं नासए कम्मं।। 420।।
प्रतिभग्नस्य मृतस्य वा, नश्यति चरणं श्रुतं अगुणनया।
न खलु वैयावृत्यकृतं, सुखोदयं नश्यते कर्म।। 420।।

प्रव्रज्या से भ्रष्ट हो जाने पर व्यक्ति का चारित्र गुण नष्ट हो जाता है तथा अपरावर्तन के फल स्वरूप श्रुतज्ञान भी नष्ट हो जाता है, परन्तु वैयावृत्य से अर्जित शुभकर्म कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता है। अतः उसे अप्रतिपाति कहा गया हैं (तत्त्व तो केवली गम्य है)।

गिहिणो वेयावडिए, साहूणं वन्निया बहु दोसा।
जह साहुणीसुभद्दाए, तेण विसए तयं कुज्जा।। 421।।
गृहिणः वैयावृत्ये, साधूनां वर्णिताः बहुदोषाः।
यथा साध्वी सुभद्रायाः, तेन विषये तत् कुर्यात्।। 421।।

साधु के द्वारा गृहस्थों की वैयावृत्य (सेवा) करने के आगम में बहुत दोष बताए गये हैं, जैसा साध्वी सुभद्रा के आख्यान से ज्ञात होता है। अतः वैयावृत्य योग्य व्यक्ति की सेवा आवश्यक होने पर ही की जानी चाहिये।

इच्छेज्ज न इच्छेज्ज व, तहवि हु पयओ निमंतए साहू।
परिणामविसुद्धीए, उ निज्जरा होइ अगहिए वि।। 422।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इच्छेत् न इच्छेत् तथापि खलु प्रयतः निमन्त्रयेत् साधुं।
परिणामविशुद्धया, तु निर्जरा भवति अग्रहीतेऽपि।। 422।।

निमन्त्रित साधु वैयावृत्य स्वीकार करे अथवा न करें फिर भी वैयावृत्य करने वाले गृहस्थ को प्रयत्न पूर्वक और आदर के साथ साधुओं को भक्तपान आदि के लिये निमन्त्रित करना चाहिये। यदि वे आहारादि ग्रहण न करे तो भी उस वैयावृत्य करने वाले गृहस्थ की तो कर्म निर्जरा होती है। उसके भावों की विशुद्धि ही कर्म निर्जरा का मुख्य हेतु है।

10. स्वाध्यायरतिद्वारम्

वेयावच्चे अब्भुज्जएण तो वायणाइपंचविहो।
विच्चम्मि उ सज्झाओ, कायव्वो परमपयहेऊ।। 423।।
वैयावृत्ये अभ्युद्यतेन ततः वाचनादिपंचविधः।
अन्तराऽन्तरा तु स्वाध्यायः, कर्तव्यः परमपदहेतु।। 423।।

वैयावृत्य के लिये उद्यत् (तत्पर) साधु यथा समय वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुपेक्षा और धर्मकथा ऐसा पांच प्रकार का स्वाध्याय अवश्य करें (यह स्वाध्याय) भी परम पद (मोक्षपद) का प्रधान हेतु है।

एत्तो सव्वन्नुतं, तित्थयरत्तंच जायइ कमेण।
इय परमं मुक्खंगं, सज्झाओ तेण विन्नेओ।। 424।।
इतः सर्वज्ञत्वं, तीर्थंकरत्वं च जायते क्रमेण।
इति परमं मोक्षाङ्गं, स्वाध्यायः तेन विज्ञेयः।। 424।।

स्वाध्याय से क्रमशः सर्वज्ञता एवं तीर्थंकरत्व भी प्राप्त हो जाता है। अतः स्वाध्याय को मोक्ष का श्रेष्ठ अंग कहा गया है। स्वाध्याय सतत रूप से करते रहना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तं नत्थि जं न पासइ, सज्झायविऊ पयत्थपरमत्थं।
गच्छइ य सुगइमूलं खणे– खणे परमसंवेगं।। 425।।
तन्नास्ति यन्न पश्यति, स्वाध्यायवित् पदार्थपरमार्थं।
गच्छति च सुगतिमूलं, क्षणे–क्षणे परमसंवेगम्।। 425।।

ऐसा कोई पदार्थ (वस्तु) और परम अर्थ (तत्त्वज्ञान) नहीं है जिसे स्वाध्यायरत साधु न देख सके अर्थात् न जान सके। वह प्रति समय सुगति के मूल कारण परम संवेगत्त्व की ओर अग्रसर होता रहता है।

कम्मं संखिज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो।
अन्नयम्मि वि जोगे, सज्झायम्मि विसेसेण।। 426।।
कर्म असंखेयभवं, क्षपयति अनुसमयमेव आयुक्तः।
अन्तरेऽपि योगे, स्वाध्याये विशेषेण।। 426।।

प्रत्यपेक्षणा, प्रमार्जना, भिक्षाचर्या, वैयावृत्य आदि के साथ–साथ संयम साधना में आदर के साथ प्रवृत्त होने वाला साधु प्रति समय अगणित भव स्थिति रूप कर्मों को क्षय कर देता है, परन्तु स्वाध्यायरत साधु तो विशेष रूप से कर्मो का क्षय करता है।

उक्कोसा सज्झाओ, चउदसपुव्वीण बारसंगाइं।
तत्तो परिहाणीए, जाव तयत्थो नमोक्कारो।। 427।।
उत्कृष्टः स्वाध्यायः, चतुर्दशपूर्विणां द्वादशाङ्गानि।
तावत् परिहान्या, यावत् तदर्थः नमोकारः स्वाध्यायः।। 427।।

उत्कृष्ट स्वाध्याय चतुर्दशपूर्वियों के द्वारा द्वादश अंगों का, दशपूर्वियों के द्वारा एकादश अंगों का, उसी प्रकार से नवपूर्वियों का भी एकादश अंगों का स्वाध्याय होता है। जघन्यतया स्वाध्याय पंचपरमेष्ठी नमस्कार रूप नमस्कार मंत्र का होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जलणाइभए सेसं, मोत्तं एक्कं पि जह महारयणं।
घेप्पइ संगामे वा, अमोहसत्थं जह तहेह।। 428।।
मोत्तंपि बारसंगं, स एव मरणम्मि कीरए जम्हा।
अरहंतनमोक्कारो, तम्हा सो बारसंगत्थो।। 429।।
ज्वलनादिभये शेषं, मोक्तुं, एकमपि यथा महारत्नं।
गृह्यते संग्रामे वा, अमोघशस्त्रं यथा तथा इह।। 428।।
मुक्त्वापि द्वादशाङ्गं, स एव मरणे क्रियते यस्मात्।
अर्हन्तनमस्कारः, तस्मात् सः द्वादशाङ्गार्थः।। 429।।

जैसे अग्नि आदि के भय के उपस्थित होने पर व्यक्ति घर के वस्त्रादि शेष सामग्री को छोड़कर एकमात्र घर में रखे हुये बहुमूल्य रत्न को लेकर निकल जाता है। युद्ध के समय लकड़ी आदि रूप शस्त्रों को छोड़कर शक्तिशाली शस्त्र लेकर वह जाता है, उसी प्रकार मरण उपस्थित होने पर स्मरण की अशक्यता वश वह व्यक्ति पंचपरमेष्टि के नमस्कारमंत्र का ही स्मरण करता है। उसे नमस्कार मंत्र के स्मरण से ही बारह अंगों का स्वाध्याय होता है, क्योंकि नमस्कार मंत्र को चौदह पूर्वों और द्वादश अंगों का सार कहा गया है।

सव्वं पि बारसंगं, परिणामविसुद्धिहेउमित्तागं।
तक्कारणमेत्ताओ, किह न तयत्थो नमुक्कारो ?।। 430।।
सर्वमपि द्वादशाङ्गं, परिणामविशुद्धिहेतुमात्रकं।
तत्कारणमात्रकः, कथं न तदर्थं नमोकारः ?।। 430।।

इन सभी बारह अंगों के स्वाध्याय का मुख्य हेतु जो परिमाण विशुद्धि है, क्योंकि पंच परमेष्ठी मंत्र द्वारा भी परिणाम विशुद्धि होने के कारण ही स्वाध्याय में द्वादश अंगों का स्वाध्याय हो जाता है, यह उक्ति चरितार्थ हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न हु तम्मि देसकाले, सक्को बारसविहो सुयक्खंधो।
सव्वो अणुचिंतेउं, धंतंपि समत्थचित्तेण।। 431।।
नैव तस्मिन् काले, शक्यः द्वादशविधो श्रुतस्कन्धः।
सर्वं अनुचिन्तयितुं, धन्तमपि समर्थचित्तेन।। 431।।

सामान्यतः मरणकाल में बारह प्रकार के श्रुतस्कन्ध का अनुचिन्तन शक्य नहीं है, क्योंकि समर्थचित्त वालों के द्वारा ही वह द्वादशविध श्रुतस्कन्ध अनुचिन्तन शक्य है। अतः उस स्थिति में पंचपरमेष्ठी नमस्कार मंत्र ही स्मरणीय है।

नामाइमंगलाणं, पढमं चिय मंगलं नमोक्कारो।
अवणेइ वाहितक्कर–जलणाइभयाइं सव्वाइं।। 432।।
हरइ दुहं कुणइ सुहं, जणइ जसं सोसए भवसमुद्दं।
इहलोअपारलोइअ–सुहाण मूलं नमुक्कारो।। 433।।
नामादिमंगलानां, प्रथमं चैव मंगलं नमस्कारः।
अपनयति व्याधितस्करज्वलनभयानि सर्वाणि।। 432।।
हरति दुःखं करोति सुखं, जनयति यशः शोषयति भवसमुद्रं।
इहलोकपारलौकिक सुखानां मूलम् नमोकारः।। 433।।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव मंगलों में प्रधान मंगल नमस्कार मंत्र ही हैं, क्योंकि नमस्कार मंत्र से रोग, चोर, अग्निदाह आदि सभी भय दूर हो जाते हैं, यश की प्राप्ति होती है तथा इससे भव–समुद्र भी सुख जाता है। यह नवकार मंत्र तो ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों का मूल है।

इहलोयम्मि तिदंडी, सादिव्वं माउलिंगवणमेव।
परलोए चंडपिंगल–हुंडियजक्खो य दिट्ठंता।। 434।।
इहलोके त्रिदण्डी, सान्निध्यं मातुलिङ्गवनमेव।
परलोके चण्डउपिंगल हुण्डिकयक्षः च दृष्टान्तः।। 434।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस लोक में नमस्कार मंत्र के माहात्म्य के लिये त्रिदण्डी का उदाहरण ज्ञातव्य है। नमस्कार के प्रभाव से देवता का सान्निध्य भी प्राप्त किया जा सकता है। इससे विशुद्ध चित्त वाले भक्तों को धनागम भी हो सकता है। यह दृष्टान्त से जाना जा सकता है। नमस्कारमंत्र के पारलौकिक माहात्म्य के सम्बन्धमें चण्डपिंगल कथानक एवं हुण्डिक यक्ष का कथानक ग्रन्थों में वर्णित है। अतः नमस्कार मंत्र का स्मरण अत्यन्त परमावश्यक है।

11. अनायतन त्यागद्वारम्

सज्झायं पि करेज्जा, वज्जंतो जत्तओ अणाययणं।
तं इत्थिमाइयं पुण, जईण समए जओ भणियं।। 435।।
स्वाध्यायं अपि कुर्यात्, वर्जयन् यत्नतः अनायतनं।
तं स्त्रियादिकं पुनः, यतीनां समये यतः भणितं।। 435।।

ऐसे महत्वपूर्ण स्वाध्याय को प्रयत्न पूर्वक गुरु के चरण मूल का आश्रय लेकर ही करना चाहिये, अन्य के सान्निध्य में नहीं। स्त्रीजन आदि का सान्निध्य अनायतन है। यति के लिये स्त्री–जनादि का आयतन कुत्सित है। ऐसा सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है।

विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयं रसभोयणं।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा।। 436।।
विभूषा स्त्रीसंसर्गी, प्रणीतरसभोजनं।
नरस्यात्मगवेषिणः, विषं तालपुटं तथा।। 436।।

आत्म कल्याण चाहने वाले स्वाध्यायी मुनि के लिये विभूषा (शारीरिक श्रृंगार) स्त्रीसंसर्ग एवं प्रणीतरस–भोजन (अति सरस भोजन) ये तीनों तालपुट–विष के समान अहित कर माने गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धंतजलहिपारं, गओ वि विजिइंदिओ वि सूरो वि।
थिरचित्तो वि छलिज्जइ, जुवइपिसाईहिं खुद्दाहिं।। 437।।
सिद्धान्तजलधिपारं गतोऽपि विजितेन्द्रियः अपि शूरः अपि।
स्थिर–चित्तः अपि छल्यते, युवतीपिशाचीभिः क्षुद्राभिः।। 437।।

सिद्धान्त रूपी समुद्र के पारगामी ज्ञानी जन, इन्द्रियों पर संयम रखने वाले साधक पुरूष, शूरवीर योद्धा एवं स्थिर चित्तवाले पुरूष भी नव–योवना क्षुद्र पिशाचिनियों द्वारा छले जाते हैं।

मयणनवणीयविलओ, जह जायइ जलणसन्निहाणम्मि।
तह रमणिसन्निहाणे, विद्दवइ मणो मुणिणं पि।। 438।।
मदननवनीतयोः विलयः, यदि जायते ज्वलन सन्निधाने।
तथा रमणिसन्निधाने, विद्रवति मनो मुनीनां अपि।। 438।।

जैसे अग्नि के सामने नवनीत (मक्खन) द्रवीभूत (पिघल) हो जाता है, उसी प्रकार रमणीय स्त्रियों के सामने मुनियों का भी मन विचलित हो जाता है अर्थात् उनका ब्रह्मचर्य भी शिथिल हो जाता है।

नीयंगमाहिं सुपओहराहिं, अप्पिच्छमंथरगईहिं।
महिलाहिं निन्नयाहिं व, गिरिवरगुरुयावि भिज्जंति।। 439।।
निम्नगामिभिः सुपयोधराभिः, उत्पिच्छमंथरगतिभिः।
महिलाभिः निम्नगामिथिः वा गिरिवर गुरवोऽपि भिद्यन्ते।। 439।।

जिस प्रकार निम्नगामी नदी उन्नत पर्वतों को भी अपनी तेज धार से काट देती है, उसी प्रकार उन्नत पयोधर और मंथरगति वाली दुश्चरित्र (नीच) स्त्रियाँ अच्छे–अच्छे व्यक्तियों के चरित्र को भी नष्ट कर देती है। यहाँ स्त्री के स्तनों की बादल (पयोधर–जल या दूध को धारण करने वाले) से तुलना की है। पुनः जिस प्रकार बादल मंथर गति से चलते हैं, वैसे ही स्त्रियां भी मंथर गति से चलती हैं। जिस प्रकार बादल के बरसने के कारण नदी निम्न गामी होती है, वैसे ही स्त्री के स्तन भी निम्नगामी (वृद्धावस्था में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ढलने के कारण) होते है, किन्तु वे गुरूजनों के गौरव को भी नष्ट कर देती हैं। यह तुलना की गई है।

घणमालाउ व दूर–न्नमंतसुपओहराओ वड्ढंति।
मोहविसं महिलाओ, दुन्निरुद्धविसं व पुरिसस्स।। 440।।
घनमाला इव दूरं उन्नमंतपयोधरा वर्धयन्ति।
मोहविषं महिलाः, दुर्निरूद्धविषमिव पुरूषस्य।। 440।।

बादलों (मेघ समूह) के समान अति ऊंचाई पर स्थित और शोभन जल लिये हुए अत्यन्त उन्नत पयोघर वाली स्त्रियाँ भी पुरूषों के लिये मोहरूपी विष को बढ़ाती है, पुरूषों के लिये यह दुर्निवार होता है। महिलाओं का मोह ही विष है।

सिंगारतरंगाए, विलासवेलाए जोव्वणजलाए।
के के जयम्मि पुरिसा, नारिनईए न वुज्झंति ?।। 441।।
श्रृङ्गारतरङ्गायाः, विलासवेलायाः यौवनजलायाः।
के के जगति पुरूषाः, नारीनदीभिः नोह्यन्ते।। 441।।

श्रृंगार रूपी तरंगवाली, विलासरूपी वेला (तट) वाली और यौवनरूपी जल वाली नारी–रूपी नदी में कौन ऐसे पुरूष है जो डूबे नहीं ? अर्थात् सभी नारीरूपी नदी में डूब रहे है या कामुक बने हुए है।

जुवईहिं सह कुणंता, संसग्गिं कुणइ सयलदुक्खेहिं।
नहि मूसगाण संगो, होइ सुहो सह बिडालेहिं।। 442।।
युवतिभिः सह संगं कुर्वन्, संसर्गं करोति सकलदुःखैः।
न हि मूषकानां संगः, भवति शुभः सह विडालैः।। 442।।

जो स्त्रियों का संसर्ग (सहवास) करता है वह सभी प्रकार के दुःखों को ही प्राप्त करता है। जैसे – बिल्ली के साथ मूषकों का संग (साथ में रहना) कभी भी सुखदायी नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोयंति रुयावंति य, अलियं जंपंति पत्तियाबंति।
कवडेण य खंति विंस, महिलाओ न जंति सब्भावं।। 443।।
रूदन्ति रोदयन्ति च, अलीकं जल्पन्ति प्रत्याययन्ति।
कपटेन च स्वादन्ति विषं, महिलाः, न यान्ति सद्भावम्।। 443।।

ये स्त्रियाँ रोती है, अन्यों को रूलाती भी है, असत्य बोलती है तथा कपट पूर्वक विष भी खा लेने का नाटक भी करती है। इस प्रकार के स्वभाव वाली ये महिलायें कभी भी सहजता (सरलता) को प्राप्त नहीं कर पाती हैं।

परिहरसु तओ तासिं, दिट्ठिं दिट्ठिविस्स व अहिस्स।
जं रमणिनयणबाणा, चरित्तपाणे विणासंति।। 444।।
परिहर ततः तासां, दृष्टिं दृष्टिविषस्य इव अहेः।
यद् रमणीनेत्रवाणाः, चारित्रप्राणान् विनाशयन्ति।। 444।।

इसीलिये दृष्टि विष सर्प अर्थात् विष पूर्ण दृष्टि वाले सर्प के समान स्त्रियों की दृष्टि का त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि रमणीय स्त्रियों के नेत्र रूपी बाण मनुष्य (साधु) के चरित्र रूपी प्राण का विनाश कर देते हैं।

जइ वि परिचत्तसंगा, तवतणुअंगो तहावि परिवडइ।
महिलासंसग्गीए, पवसियभवणूसियमुणिव्व।। 445।।
यद्यपि परित्यक्त–सङ्गा, तपः तन्वङ्गः तथापि परिपतति।
महिलासंसर्गेण, प्रोषित–भवनोषित मुनि इव।। 445।।

स्त्रियों के संसर्ग का त्याग करने वाले और तपस्या द्वारा शरीर को कृश करने वाले मुनि भी स्त्री का सान्निध्य पाकर पथ से उसी प्रकार भ्रष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार विदेश गये हुए पति के घर पर न रहने पर, उस भवन में अल्प समय के लिये विश्राम हेतु ठहरे हुए कोई मुनि अपने पथ से भ्रष्ट हो गये थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इयरत्थीण वि संगो, अग्गीं सत्थं विसं विसेसेइ।
जो संजईहिं संगो, सो पुण अइदारुणो भणिओ।। 446।।
इतरस्त्रीणां, अपि सङ्गः, अग्निं शास्त्रं विषं विशेषयति।
यः संयतिभिः सङ्गः, सः पुनः अतिदारूणः भणितः।। 446।।

स्त्रियों का संसर्ग (सम्बन्ध) अग्नि, शस्त्र और विष के संसर्ग से भी अति भयंकर होता है। इससे भी अधिक भयंकर कष्ट प्रदान करने वाला संयमी साध्वियों का संसर्ग होता है।

चेइदव्वविणासे, इसिघाए पवयणस्स उड्डाहे।
संजइचउत्थभंगे, मूलग्गी बोहिलाभस्स।। 447।।
चैत्यद्रव्यविनाशे, ऋषिघाते प्रवचनस्य चोड्डाहे।
संयति चतुर्थभङ्गे, मूलाग्निः बोधिलाभस्य।। 447।।

चैत्य द्रव्य का विनाश करने पर, ऋषि (मुनि) का घात करने पर, जिन प्रवचन का अपलाप करने पर और साध्वी चतुर्थ व्रतभंग करने पर ऐसा जान पडता है मानो उसने (सामान्यतया) बोधि रूपी वृक्ष को मूल से ही जलाडाला है। वह भवभ्रमण करता है तथा उसे यथार्थ बोध की प्राप्ति भी नहीं हो पाती है।

चेइयदव्वं साहारणं च जो मुसइ जाणमाणो वि।
धम्मं पि सो न याणइ, अहवा बद्धाउओ नरए।। 448।।
चैत्यद्रव्य साधारणं च यः मुष्णाति जानन् अपि।
धर्मं अपि सः न जानाति, अथवा बद्धायुष्कः नरके।। 448।।

जो चैत्यद्रव्य और साधारण खाते के द्रव्य के रूप में संग्रहित धन को चुरा कर जानते हुए भी उसका उपभोग करता है तो उसकी इस प्रवृत्ति से ही तो यह जान सकते हैं कि वह धर्म को भी नहीं जानता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जमुवेहंतो पावइ, सहू वि भवं दुहं च सोऊणं।
संकासमाइयाणं, को चेइयदव्वमवहरइ ?।। 449।।
यदुपेक्षमाणः प्राप्नोति, साधुः अपि भवं दुःखं च सहित्वा।
संकाश आदिनां, कः चैत्यद्रव्यमपहरति।। 449।।

चैत्य द्रव्य की अपेक्षा करता है तथा सामर्थ्य होते हुए भी उस द्रव्य की स्वयं रक्षा नहीं करता है अथवा स्वयं उसका भक्षण करता है वह अनन्त भव भ्रमण करता है। संकाश नामक भावक आदि के शास्त्र में वर्णित कथानकों का श्रवण कर कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो चैत्यद्रव्य का अपहरण करेगा ? अर्थात् कोई भी समझदार व्यक्ति चैत्य द्रव्य का अपहरण अथवा भक्षण नहीं करेगा।

जो लिगिणिं निसेवेइ, लुद्धो निद्धंधसो महापावो।
सव्वजिगाण ज्झाओ, संघो आसाइओ तेण।। 450।।
यः लिङ्गिणीं निषेवते, लुब्धः निःशूकः महापापः।
सर्वजिनानाम् ध्येयः, सङ्घः आशातितः तेन।। 450।।

जो साधु या गृहस्थ साध्वी के साथ काम–संसर्ग करता है वह लम्पट एवं निर्लज्ज महापापी है। उसने सभी जिनेश्वरों के सम्पूर्ण संघ का अपमान किया है।

पावाणं पावयरो, दिट्ठोऽभासे वि सो न कायव्वो।
जो जिणमुद्दं समणिं, नमिउं तं चेव धंसेइ।। 451।।
पापानां पापतरः, दृष्ट्यभ्यासेऽपि सः न कर्तव्यः।
यः जिनमुद्रां श्रमणीं, नत्वा तांचैव ध्वंसयति।। 451।।

जो व्यक्ति जिनेन्द्र मुद्रा धारण करने वाली और ज्ञानादि गुणों के कारण नमन करने योग्य श्रमणी के चरित्र को नष्ट कर उसके चारित्र रूपी जीवन को ही नष्ट कर देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारमणवयग्गं, जाइजरामरणवेयणापउरं।
पावमलपडलच्छन्ना, भवंति मुद्दाघरिसणेण।। 452।।
संसारमनवदग्रं, जातिजरामरणवेदना–प्रचुरं।
पापमलपटलछन्नाः, भवन्ति मुद्राघर्षणेन।। 452।।

ऐसे जिनमुद्रा घाती अर्थात् चारित्रमय जीवन का विनाश करने वाला व्यक्ति जन्म, जरा, मृत्यु और रोग के दुःखों से परिपूर्ण इस संसार रूपी समुद्र में अपर्यवसित काल तक भ्रमण करते हैं। वे पाप रूपी मल जिन मुद्रा धारण करने वाली साध्वी के चारित्र को भ्रष्ट (पतित) करने के फल–स्वरूप होते हैं।

अन्नं पि अणाययणं, परतित्थियमाइयं विवज्जेज्जा।
आययणं सेवेज्जसु, वुड्ढिकरं नाणमाईणं।। 453।।
अन्यदपि अनायतनं परतीर्थिकादिकं विवर्जयेत्।
आयतनं सेवेत, वृद्धिकरं ज्ञानादिनां।। 453।।

इसी प्रकार अन्य तैर्थिक रूप अनायतन का परित्याग कर ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की वृद्धि करने वाले जैन धर्म तीर्थरूप आयतन का ही सेवन करना चाहिये।

भावुगदव्वं जीवो, संसग्गीए गुणं च दोसं च।
पावइ एत्थाहरणं, सोमा तह तदयवरो चेव।। 454।।
भावुकद्रव्यं जीवः, संसर्गेण गुणं च दोषं च।
प्राप्नोति अत्रोदाहरणं, सोमा तथा द्विजवरःचेति।। 454।।

भावुक व्यक्ति अच्छे अथवा दुराचारी व्यक्तियों के संपर्क के कारण ही क्रमशः गुण अथवा दोष को प्राप्त करता है। इस प्रसंग में सोमा और श्रेष्ठ द्विज के उदाहरण द्रष्टव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुट्ठु वि गुणे धरंतो, पावइ लहुयतणं अकित्तिं च।
परदोसकहानिरओ, उक्करिसपरो य सगुणेसु।। 455।।
सुष्ठु अपि गुणान् धरन्, प्राप्नोति लघुत्वं अकीर्तिं च।
परदोषकथानिरतः, उत्कर्षपरश्च स्वगुणेषु।। 455।।

दूसरों के दोषों की निन्दा करने में निरत और अपने ही गुणों की बढ़ाई करने वाले ये दोनों ही हेय है। ऐसे व्यक्ति गुणवान् होते हुए भी लघुता तथा अपयश ही प्राप्त करते हैं।

आयरइ ज अकज्जं अन्नो किं तुज्झ चिंताए ?।
अप्पाणं चिय चिंतसु, अज्ज वि वसगं भवदुहाणं।। 456।।
आचरति यद्यकार्यं, अन्यः किं कश्चित् तव तत्र चिंतया।
आत्मानं एव चिन्तया अद्यापि वशगं भवदुःखानाम्।। 456।।

कोई अन्य व्यक्ति अकरणीय आचरण करता है तो उसके इहलौकिक और पारलौकिक जीवन के विषय में तुम्हारी चिन्ता व्यर्थ है। तुम तो यही चिन्ता करो कि सांसारिक दुःखों के वशीभूत मैं किस प्रकार इन दुःखों से मुक्त हो पाऊंगा दूसरों के दोषों की चिन्ता निष्प्रयोजन ही है।

परदोसे जंपंतो, न लहइ अत्थं जसं न पावेइ।
सुअणं पि कुणइ सत्तुं, बंधइ कम्मं महाघोरं।। 457।।
परदोषान् जल्पन् न लभते अर्थं यशः न प्राप्नोति।
स्वजनं अपि करोति शत्रुं, बध्नाति कर्म महाघोरं।। 457।।

दूसरों के दोषों को कहने से न तो द्रव्य की प्राप्ति होती है और न यश की प्राप्ति होती है। स्वजन भी शत्रु बन जाते हैं तथा अतिरौद्र कर्म का बन्धन होता हैं।

समयम्मि निग्गुणेसु वि, भणिया मज्झत्थभावया चेव।
परदोसगहणं पुण, भणियं अन्नेहि वि विरुद्धं।। 458।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समये निर्गुणेष्वपि, भणिता मध्यस्थभावता चैव।
परदोषग्रहणं पुनः, भणितं अन्यैः अपि विरूद्धम्।। 458।।

सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि दुर्जनों के विषय में माध्यस्थ भाव (उदासीनता) ही उचित है। दूसरों के दोषों को ग्रहण करना अन्य दर्शनियों के द्वारा भी निन्दनीय माना गया है।

लोओ परस्स दोसे, हत्थाहत्थिं गुणे य गिण्हंतो।
अप्पाणमप्पणो च्चिय, कुणइ सदोसं च सगुणं च।। 459।।
लोकः परस्य दोषान्, साक्षात् स्वयमेव गुणान् च गृण्हन्।
आत्मानं आत्मना एव, करोति सदोषं च सगुणं च।। 459।।

व्यक्ति दूसरों के गुणों एवं दोषों को क्रमशः ग्रहण करता हुआ स्वयं ही अपने आपको गुण युक्त या दोष युक्त बनाता है। अतः दूसरों के गुणों को ही ग्रहण करना चाहिये, दोषों को कभी नहीं।

भूरिगुणा विरलच्चिय, एक्कगुणो वि हु जणो न सव्वत्थ।
निद्दोसाणा वि भद्दं, पसंसिमो थेवदोसे वि।। 460।।
भूरिगुणाः विरलाः एव, एक गुणः अपि खलु जनो न सर्वत्र।
निर्दोषानां अपि भद्रं, प्रशंसामः स्तोकदोषऽपि।। 460।।

प्रचुर गुण वाले व्यक्ति अत्यन्त ही विरल होते हैं। ज्ञानादि गुण से परिपुष्ट मात्र एक गुण के धारक व्यक्ति सभी जगह उपलब्ध नहीं होते हैं। निर्दोष व्यक्ति प्रशंसनीय है ही, किन्तु अल्पदोष और अधिक गुण वाले व्यक्ति भी प्रशंसनीय है।

(13) धर्मस्थिरता द्वारम्

परदोसकहा न भवइ, विणापओसेण सो य भवहेऊ।
खवओ कुंतलदेवी, सूरी य इहं उदाहरणा।। 461।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परदोषकथा न भवति, बिना प्रद्वेषेणेन सःच भवहेतुः।
क्षपकः कुन्तला देवी सूरिश्च अत्र उदाहरणानि।। 461।।

प्रकर्ष द्वेष के बिना दूसरों का दोष–दर्शन नहीं होता है और यह प्रकर्ष द्वेष ही प्राणियों के भवभ्रमण का हेतु कहा गया है। इस सम्बन्ध में क्षपक, कुन्तलादेवी (जितशत्रु नामक राजा की मुख्य रानी) और शिथिलाचारी आचार्य के उदाहरण, सिद्धान्त ग्रन्थों में कहे गये हैं।

पुव्वुत्तगुणसमग्गं, धरिंउ जइ तरसि नेय चारित्तं।
सावयधम्मम्मि दढो, हवेज्ज जिणपूयणुज्जुत्तो।। 462।।
पूर्वोक्तगुणसमग्रं, धर्तुं यदि शक्नोषि नैव चारित्रं।
श्रावकधर्मे दृढः, भवितव्यं जिनपूजनोद्युक्तः।। 462।।

पूर्व वर्णित कषाय जय, इन्द्रिय जय, आदि गुणों से युक्त होकर भी चारित्र के परिपालन में असमर्थ हो तो जिन पूजन में उद्यत होकर तथा पर निन्दा से विरत होकर आगम वर्णित श्रावक धर्म में दृढ़ हो जाये।

वरपुप्फगंधअक्खय–पईवफलधूवनीरपत्तेहिं।
नेविज्जविहाणेहि य, जिणपूया अट्ठहा होई।। 463।।
वर पुष्पगंधाक्षतप्रक्षीयमालधूपनीरपात्रैः।
नैवेद्यविधानैः, च जिनपूजा अष्टधा भवति।। 463।।

श्रेष्ठ फूल–पत्र, चन्दन, अक्षत (चावल) दीपक, फल, धूप, जल तथा नैवेद्य के विधान से जिन पूजा आठ प्रकार की होती है।

उवसमइ दुरियवग्गं, हरइ दुहं जणइ सयलसोक्खाइं।
चिंताईयं पि फलं, साहइ पूया जिणिंदाणं।। 464।।
उपशमयति दुरितवर्ग, हरति दुःखं जनयति सकलसौख्यानि।
चिन्तातीतं अपि फलं, साधयति पूजा जिनेन्द्राणाम्।। 464।।

यह जिन पूजा पाप समूह का विनाश करती है, दुःख का हरण करती है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं सभी प्रकार का सौख्य प्रदान करती है। यह चिन्ता रहित सुख अर्थात् स्वर्ग एवं अपवर्गादि के सुख भी प्रदान करती है।

पुप्फेसु कीरजुयलं, गंधाइसु विमलसंखवरसेणा।
सिववरुणसुजससुव्वयं--कमेण पूयाए आहरणा।। 465।।
पुष्पेषु कीरयुगलं, गंधादिषु विमलशंखवरसेनाः।
शिववरूण–सुयश–सुव्रत--क्रमेण पूजायां उदाहरणानि।। 465।।

पुष्पार्चना के फल का उदाहरण शुक युगल तथा गन्ध पूजा के फल का उदाहरण विमल का कथानक है। अवशिष्ट प्रकार की पूजाओं के फल के दृष्टातों के रूप में क्रमशः शंख, वरषेणा, शिव, वरूण, सुयश और सुव्रत के कथानक सिद्धान्त ग्रन्थों मे वर्णित है।

अन्नो मुक्खम्मि जओ, नत्थि उवाओ जिणेहिं निद्दिट्ठो।
तम्हा दुहओ चुक्का, चुक्का सव्वाण वि गईणं।। 466।।
अन्यः मोक्षे यतः, नास्तिउपायः जिनैः निर्दिष्टः।
तस्मात् विशिष्टयतिधर्म, भ्रष्टाः भ्रष्टाः सर्वेभ्यः अपि गतिभ्यः।। 466।।

श्रावक के लिये पूजा विधान के अतिरिक्त कोई दूसरा विधान मोक्ष के हेतु के रूप में जिनेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट नहीं है। अतः जो विशिष्ट यति धर्म और श्रावक धर्म दोनों से च्युत् होता है वह व्यक्ति सभी प्रकार से पतित ही कहा जायेगा ऐसा समझना चाहिये।

तो अवगयपरमत्थो, दुविहे धम्मम्मि होज्ज दढचित्तो।
समयम्मि जओ भणिया, दुलहा मणुयाइसामग्गी।। 467।।
ततोऽवगतपरमार्थः, द्विविधे धर्मे भवेः दृढ़चित्तः।
समये यतः भणितः दुर्लभा मनुजादिसामग्रीः।। 467।।

इसलिये परमार्थ (तत्त्व) को अवगत कर यति धर्म अथवा श्रावक धर्म ऐसे दो भेद वाले किसी भी धर्म में दृढ़ चित्त हो जाएं, क्योंकि सिद्धान्त ग्रन्थों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य जन्म, सम्यक्--श्रद्धा आदि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ कही गयी है।

अइदुल्लहं पि लद्धुं, कहमवि मणुयत्तणं पमायपरो।
जो न कुणइ जिणधम्मं, सो झूरइ मरणकालम्मि।। 468।।
अतिदुर्लभं अपि लब्धुं, कथमपि मनुजत्वेन प्रमादपरः।
यः न करोति जिनधर्मं, सः शोचति मरणकाले।। 468।।

जो मनुष्य प्रमाद वश अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यत्व को प्राप्त करने का पुरूषार्थ नहीं करता है और जिनधर्म में प्रवृत्ति नहीं करता है, ऐसा मनुष्य मृत्यु के समय विलाप (रूदन) करता है।

जह वारिमज्झछूढो व्व, गयवरो मच्छउव्व गलगहिओ।
वग्गुरपडिओ व्व मओ, संवट्टइओ जह व पक्खी।। 469।।
यथा वारिमध्येक्षिप्तः इव गजवरः मत्स्यः च गलग्रहीतः।
वल्गुपतितः इव मृगः, संवर्तितः यथा च पक्षी।। 469।।

जिस प्रकार जल के मध्य प्रक्षिप्त हाथी, कांटे मे फँसी मछली, जाल में फंसा हुआ हिरण पछताता है और फंदे में आया हुआ पंछी छटपटता है उसी प्रकार प्रमादी मनुष्य भी अन्त में पश्चात्ताप ही करता है।

जललवचलम्मि विहवे, विज्जुलयाचंचलम्मि मणुयत्ते।
धम्मम्मि जोऽवसीयइ, सो काउरिसोन सप्पुरिसो।। 470।।
जललवचले--विभवे, विद्युत्लताइवचंचले मनुजत्वे।
धर्मेऽवसीदति यः, सः कापुरूषः न सत्पुरूषः।। 470।।

कुश (घास) के अग्र भाग पर स्थित ओस (जल) की बूंद के समान चंचल और विनाशी ऐश्वर्य (धनादि) में और बिजलीवत् क्षणिक मानव जीवन में जो मनुष्य धर्म करने में प्रमाद करता है वह वास्तव में कुत्सित मानव ही है उसे सत्पुरूष नहीं कहा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरविसयसुहं सोहग्ग–संपयं पवररूवजसकित्तिं।
जइ महसि जीव! निच्चं ता धम्मे आयरं कुणसु।। 471।।
वरं विषयसुखं–सौभाग्यसुख–संपदं प्रवररूपयशकीर्तिं।
यदि श्लाघसे जीव! नित्यं, तर्हि धर्मे आदरं कुरूष्व।। 471।।

यदि श्रेष्ठ विषय सुख, सौभाग्य, संपत्ति, श्रेष्ठ रूप, यश, कीर्ति चाहते हो तो हे जीव! तू नित्य ही धर्म के प्रति आदर भाव रख।

धम्मेण विणा परिचिंं–तियाइं जइ हुंति कहवि एमेव।
त्ता तिहुयणम्मि सयले, न हुज्ज इह दुक्खिओकोई।। 472।।
धर्मेण विना परिचिंतितानि भवन्ति कथमपि एवमेव।
तर्हि त्रिभुवने सकले, न भवेत् इह दुःखितः कोऽपि।। 472।।

यदि धर्माचरण बिना ही इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ होती तो इस सकल त्रिभुवन में कोई भी प्राणी लेश मात्र भी दुःखी नहीं होता, किन्तु इस संसार में सभी प्राणी अनेक दुःखों को भोगते हुए दिखाई देते हैं। अतः सर्वदा धर्म कार्य ही करना चाहिये।

तुल्ले वि माणुसत्ते, के वि सुही दुक्खिया य जं अन्ने।
तं निउणं परिचिंतसु, धम्माधम्मफलं चेव।। 473।।
तुल्येऽपि मानुषत्वे, केऽपि सुखी दुःखिता च यत् अन्ये।
तत् निपुणं परिचिन्तय, धर्माधर्मफलं चैव।। 473।।

सभी के मानव देह समान रूप से प्राप्त होने पर भी संसार में कोई मनुष्य सुखी और कोई मनुष्य दुःखी देखे जाते हैं। अतः सम्यक् प्रकार से धर्म और अधर्म के फल का अनुचिन्तन करना चाहिये।

ता जइ मणोरहाण वि, अगोयरं उत्तमं फलं महसि।
ता धणमित्तोव्व दढं, धम्मे अंते आराहणं जम्हा।। 474।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत् यदि मनोरथानांअपि, अगोचरं उत्तमं फलं वांछसि।
तत् धर्ममित्र इव, धर्मे एव आदरं कुरूष्व।। 474।।

यदि अगोचर (अदृश्य मोक्षरूपी) फल की इच्छा करते हो तो धनमित्र के समान जिन धर्म के प्रति आदर भाव रखकर, उसका सम्यक्रूप से आचरण करें।

14. परिज्ञाद्वारम्

इय सव्वगुणविसुद्धं, दीहं परिपालिऊण परियायं।
तत्तो कुणंति धीरा, अंते आराहणं जम्हा।। 475।।
इति सर्वगुणविशुद्धं, दीर्घं परिपालय पर्यायं।
ततः कुर्वन्ति धीराः, अन्ते आराधनां यस्मात्।। 475।।

इस प्रकार गुणों से परिशुद्ध चारित्र धर्म का चिरकाल तक परिपालन करके महासत्तवशाली पुरूष अंतिम समय में संलेखना पूर्वक देह का त्याग करें।

सुचिरं पि तवो तवियं, चिन्नं चरणं सुयं च बहुपढियं।
अंते विराहइत्ता, अणंतसंसारिणो भणिया।। 476।।
सुचिरं अपि तपः तप्तं, चीर्णं श्रुतं च बहुपठितं।
अन्ते विराधयित्वा, अनन्तसंसारिणः भणिताः।। 476।।

जिन्होंने चिरकाल तक तप साधना की हो, चारित्र धर्म का पालन किया हो तथा अनेक आगमों का अध्ययन या पठन–पाठन किया हो, फिर भी अन्त समय में उन सभी का विराधक हो गया तो वह अनन्त संसारी ही कहा जायेगा, क्योंकि उसकी भव परम्परा समाप्त नहीं होगी ?

काले सुपत्तदाणं, चरणे सुगुरूण बोहिलाभं च।
अंते समाहिमरणं, अभव्वजीवा न पावंति।। 477।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काले सुपात्रदानं, चरणे सुगुरूणां बोधिलाभं च।
अन्ते समाधिमरणं, अभव्य जीवाः प्राप्नुवन्ति।। 477।।

भव्य जीव उचित अवसर पर सुपात्रों को दान देकर तथा सद्गुरू के चरणों में सम्यक् बोधि को प्राप्त कर अन्त समय में समाधि मरण के द्वारा भव परम्परा को समाप्त कर लेता है, परन्तु अभव्य जीव इसे कभी भी प्राप्त नहीं कर पाता है, क्योंकि वह मिथ्यात्व के कारण अन्तिम समय में विराधक बन जाता है।

सपरक्कमेयरं पुण, मरणं दुविहं जिणेहिं निद्दिट्ठं।
एक्केक्कं पि य दुविहं, निव्वाघावं सवाघायं।। 478।।
सपराक्रमेतरं पुनः, मरणं द्विविधं जिनैः निर्दिष्टम्।
एकैकं अपि च द्विविधं, निर्व्याघातं सव्याघातं।। 478।।

जिनेश्वर परमात्माओं ने समाधि मरण दो प्रकार का बताया है, सपराक्रम एवं अपराक्रम मरण। इनमें से प्रत्येक निर्व्याघात एवं सव्याघात रूप से दो प्रकार का होता है।

सपरक्कमं तु तहियं, निव्वाघायं तहेव वाघायं।
जीयकप्पम्मि भणियं, इमेहिं दारेहिं नायव्वं।। 479।।
सगणनिरसणपग्गणे, सिति संलेहे अगीयसंविग्गे।
एगोऽभोयणमन्ने, अणपुच्छं परिच्छया लोए।। 480।।
ठाणवसहीपसत्थे, निज्जवगा दवदायणे चरिमे।
हाणिपरिंततनिज्जर–संथारूव्वत्तणाईणि।। 481।।
सारेऊण य कवयं, निव्वाघाएण चिंधकरणं च।
वाघाए जायणया, भत्तपरिण्णाएँ कायव्वा।। 482।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सपराक्रमं तु तथैव, निर्व्याघातं तथैव व्याघातं।
जीतकल्पे भणितं, एतैः द्वारैः ज्ञातव्यं।। 479।।
स्वगण–निस्सरणापरगणे, श्रिति संलेखे अगीतसंविग्ने।
एकोऽभोगनमन्ये, अनपृष्टे परीक्षया आलोके।। 480।।
संस्थानवसति प्रशस्ते, निर्यापकाः द्रव्यदापणे चरिमे।
हानिपरितांते निर्जरसंस्थोद्वर्तनादीनि।। 481।।
सारयित्वा च कवचं, निर्व्याघातेन चिन्हकरणं च।
व्याघातेन ज्ञातेन, भक्त परिज्ञानेन कर्त्तव्या।। 482।।

इन दोनों प्रकार की अर्थात् सपराक्रम और अपराक्रम समाधि मरणों में से सपराक्रम समाधि मरण के निर्व्याघात और सव्याघात ऐसे दो प्रकार जीतकल्प भाष्य में कहे गये हैं, जिनका विस्तृत वर्णन उस ग्रन्थ से जान लेना चाहिये।

समाधिमरण का साधक सर्वप्रथम स्वगण का परित्याग कर और विधिपूर्वक परगण में प्रवेश की अनुज्ञा प्राप्त करता है। परगण में प्रवेश के समय परगण के आचार्य को अपने गण के शिष्यों से पूछकर ही प्रवेश देना चाहिये। तत्पश्चात् समाधिमरण का साधक प्रशस्त अध्यवसाय से युक्त होकर कषाय और शरीर को कृश करने हेतु तप करे। समाधि मरण सम्बन्धित तप विधि तीन प्रकार की बतायी गयी है। जघन्य–मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य छः मास, मध्यम बारह मास और उत्कृष्ट बारह वर्ष बतायी गयी है। इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक जानने के लिये उत्तराध्ययनसूत्र के 36 वें अध्ययन की गाथा में द्रष्टव्य है।

समाधिमरण का साधक अगीतार्थ के समीप समाधिमरण स्वीकार न करें, न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उससे भक्त प्रत्याख्यान आदि करें। इस हेतु संविग्न या गीतार्थ निर्यापक को ही स्वीकार करना चाहिये। निर्यापकों की संख्या एक से अधिक होनी चाहिये, क्योंकि एक निर्यापक को स्वीकार करने पर यदि वह अपने आहार–पानी के लिये चला जायेगा तो आर्त्तध्यान आदि की संभावना हो सकती है। निर्यापक को साधक की शारीरिक स्थिति देखकर ही समाधि मरण सम्बन्धि प्रत्याख्यान कराना चाहिये। यदि समाधि मरण हेतु एक से अधिक साधक उपस्थित हो तो ऐसी स्थिति में उस गण के आचार्य को स्वगण के मुनिवरों से विचार–विमर्श किये बिना सहसा ही दूसरे व्यक्ति को समाधिमरणकी स्वीकृति नहीं देनी चाहिये। समाधि मरण के उद्देश्य से दूसरे गण का साधु या आचार्य उपस्थित हो तो सर्वप्रथम उसकी परीक्षा ले लेनी चाहिये कि वह जीतेन्द्रिय आदि गुणों से युक्त है या नहीं। उसके पश्चात् समाधि मरण के साधक को सर्व प्रथम आलोचना करनी चाहिये। आलोचना ग्रहण करने के पश्चात् समाधि मरण हेतु प्रशस्त स्थान और वसति का चयन करना चाहिये। निर्यापक को ऐसा होना चाहिये, जो स्वयं त्यागी ओर तपस्वी हो। अन्तिम समय में आहारेच्छा होने पर तपस्वी दिखाकर भी उसके प्रति उसके मन में वैराग्य भाव उत्पन्न कराना चाहिये। यदि समाधिमरण के साधक में हीयमान भाव उत्पन्न हो तो निर्यापक को उसे दूर करना चाहिये और परिषहों और उपसर्गों को जीतने की प्रेरणा देनी चाहिये। तथा साधक को क्रमशः आहारादि की मात्रा कम करते जाना चाहिये। साथ ही उसके संस्तारक की प्रतिलेखना करते हुये उसे करवट आदि दिलाना चाहिये। देवाधिष्ठित उपसर्ग आदि उत्पन्न हो तो कवच आदि प्रदान करना चाहिये। इस प्रकार से निर्व्याघात रूप से समाधि मरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्ण होने पर शव की प्रतिस्थापना के समय उसके समीप मुनि चिन्ह रखने चाहिये। अर्थात् उस मुनि के शव का लोच करके उसके समीप मुख वस्त्रिका, रजोहरण, चोल पट्ट आदि उपकरण रखना चाहिये।

यदि समाधि मरण ग्रहण करने वाला साधु समाधिमरण से विचलित हो तो उस स्थिति में समाधि–मरण के लिये तत्पर किसी अन्य साधु को स्थापित करना चाहिये यदि वह उपलब्ध न हो तो देशकाल, परिस्थिति के अनुरूप योग्य विधि करनी चाहिये। ताकि जिन शासन की निन्दा न हो। यह भक्त प्रत्याख्यान संलेखना का स्वरूप बताया गया है। शेष इंगिनीय मरण और पादोपगमन मरण ये दो प्रकार के समाधि मरण प्रथम संघयण के साधुओं को छोड़कर आर्यिकाओं, देशविरतों आदि के लिये वर्जित है। उन्हें भक्त प्रत्याख्यान रूप समाधि मरण ही करवाना चाहिये। समाधि मरण भूमि अथवा शिलातल पर उत्तरपट या संस्तारक बिछाकर ही करना चाहिये, जिससे साधक को असमाधि न हो।

अपरक्कमो बलहीणो, निव्वाघाएण कुणइ गच्छम्मि।
वाघाओ रोगविसा–इएहिं तह विज्जुमाईहिं।। 483।।

अपराक्रमः बलहीनः, निर्व्याघातेन करोति गच्छे।
व्याघातः रोगविषादिभिः तथा विद्युतादिभिः।। 483।।

दूसरे गण (गच्छ) में जाने में असमर्थ साधु रोग आदि उपद्रवों के अभाव में अपने गच्छ में भी निर्व्याघात रूप से समाधिमरण करता है किन्तु रोग, विष (सर्पदंश आदि) तथा विद्युत् अर्थात् बिजली गिरने आदि की स्थिति में व्याघात समाधिमरण करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक्कं पंडियमरणं, छिंदइ जाईसयाइं बहुयाइं।
एक्कं पि बालमरणं, कुणइ अणंताइं दुक्खाइं।। 484।।
एकं पण्डितमरणं छिनत्ति, जातिशतानि बहूनि बहुलानि।
एकं अपि बालमरणं, करोति अनन्तानि दुःखानि।। 484।।

एक पण्डित मरण सौ भवों के संसार परिभ्रमण समाप्त करने वाला होता है तथा एक बाल मरण अनन्त भवों तक दुःख प्रदान करने वाला होता है।

धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्समरियव्वं।
ता निच्छियम्मि मरणे, वरं खु धीरत्तणे मरियं।। 485।।
धीरेणापि मर्तव्यं कापुरूषेणापि मर्तव्यं अपि अवश्यं मर्तव्यं।
तत् निश्चिते मरणे, वरं खलु धीरत्वे एव मरणं।। 485।।

धैर्यवान् भी मरता है, कायर पुरूष भी मरता है। अतः जब मृत्यु निश्चित ही है तो फिर धीरता के साथ मृत्यु का वरण ही श्रेष्ठ माना गया हैं।

पाओवगमेण इंगिणि–भत्तपकरण्णाइविबुहमरणेणं।
जंति महाकप्पेसु, अहवा पाविंति सिद्धिसुहं।। 486।।
पादपोपगमेन इंगिनी, भक्तपरिज्ञादिविवुध–मरणमेव।
यान्ति महाकल्पेषु, अथवा प्राप्नुवन्ति सिद्धिसुखं।। 486।।

पादपोपगमन इंगिणीमरण तथा भक्त परिज्ञा मरण के रूप में पण्डित मरण द्वारा मृत प्राणी या तो महाकल्पों अर्थात् श्रेष्ठ देव लोक में उत्पन्न होते हैं अथवा सिद्धि सुख को प्राप्त करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुरगणसुहं समग्गं, सव्वद्धापिंडियं जइ हविज्जा।
. नवि पावइ मुत्तिसुहं–ऽणंताहिं वि वग्गवग्गूहिं।। 487।।

सुरगणसुखं समग्रं, सर्वाध्वापिण्डितं यदि भवेत्।
नापि प्राप्नोति मुक्तिसुखं, अनन्ताभिः अपि वर्गवर्गैः।। 487।।

सभी देवों का जो सुख होता है वह भी समग्र सुखों को सर्व काल समूह से गुणा करने पर भी मुक्ति के सुख के समान नहीं हो सकता। देवों के सुखों के अनन्त वर्ग करने पर भी वे सब मिलकर भी मुक्ति के सुख की बराबरी नहीं कर सकते हैं।

दुक्खं जराविओगो, दारिद्दं रोगसोगरागाइ।
तं च न सिद्धाण तओ, तेच्चिय सुहिणो न रागंधा।। 488।।

दुःखं जराविओगौ, दारिद्र्यं रोगशोकरागादयः।
तत् च न सिद्धानां ततः, ते एव सुखिनः न रागान्धाः।। 488।।

जरावस्था, प्रिय का वियोग, रोग की उत्पत्ति, शोक, राग–द्वेष आदि जनित दुःख सिद्धों को नहीं होते हैं। अतः वे सुखी हैं। वे रागान्ध नहीं हैं। ऐसा सुख उन्हें भव विराग से ही प्राप्त होता है।

निच्छिन्नसव्वदुक्खा, जाइजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं अणुहुंति सासयं सिद्धा।। 489।।

निच्छिन्नसर्वदुःखाः, जातिजरामरणबन्धनविमुक्ताः।
अव्यावाधं सुखं, अनुभवन्ति शाश्वतं सिद्धाः।। 489।।

जन्म–वृद्धावस्था, मरण और बन्धन से विमुक्त सभी दुःखों का उच्छेद करने वाले सिद्धात्मा ही अव्याबाध शाश्वत् सुख का अनुभव करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संते वि सिद्धिसोक्खे, पुव्वुत्ते दंसियम्मि वि उवाए।
लद्धे वि माणुसत्ते, पत्ते वि जिणिंदवरधम्मे।। 490।।
जं अज्ज वि जीवाणं, विसएसु दुहासवेसु पडिबंधो।
तं नज्जइ गुरुआण वि, अलंघणिज्जो महामोहो।। 491।।

सत्यपि सिद्धिसौख्ये, पूर्वोक्ते दर्शितेऽपि उपाये।
लब्धेऽपि मानुषत्वे, प्राप्तेऽपि जिनेन्द्रवर धर्मे।। 490।।
यद् अद्यापि जीवानां, विषयेषु दुःखाश्रवेषु प्रतिबन्धः।
तत् ज्ञायते गुरूणामपि, अलङ्घनीयः महामोहः।। 491।।

सिद्धि–सुख–प्रदायक होने पर भी तथा प्रदान आदि उसकी प्राप्ति हेतु पूर्व कथित उपायों के विद्यमान रहने पर भी अर्थात् मनुष्य जन्म, जिनेन्द्र के श्रेष्ट धर्म को प्राप्त कर लेने पर भी, वर्तमान में जीवों में दुःख के कारण भूत विषय–भोगों के प्रति मोहासक्ति दिखलाई देती है। ऐसा लगता है वर्तमान में सज्जन व्यक्तियों के लिये भी महामोह से छुटकारा पाना अत्यन्त दुरूह बन गया है।

नाऊण सुयबलेणं, करयलमुत्ताहलं व भुवणयलं।
केवि निवडंति तहवि हु, पिच्छसु कम्माणबलियत्तं।। 492।।

ज्ञात्वा श्रुतवलेन, करतलमुक्ताफलं इव भुवनतलं।
केचित् निपतन्ति तथापि खलु, प्रेक्षस्व कर्मणां वलीयस्त्वं।। 492।।

श्रुतज्ञान के सामर्थ्य से इस भूमण्डल को हथेली में रखे हुए मोती के समान जानने वाले कुछ लौकिक सिद्धियों को प्राप्त मुनि भी चारित्रादि से भ्रष्ट होकर भव भ्रमण करते हैं। देखिये मोह–कर्म कितना सबल होता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक्कं पि पयं सोउं, अन्ने सिज्झंति समरनिवइव्व।
संजायकम्मविवरा, जीवाण गई अहो!! विसमा।। 493।।
एकं अपि पदं श्रुत्वा, अन्ये सिध्यन्ति समरनृपतिः इव।
संजातकर्मविवराः, जीवानां गतिः अहो! विषमा।। 493।।

मोक्ष के साधक एक भी पद (स्थान) को सुनकर समरराजा के समान कुछ ही व्यक्ति सिद्धि को प्राप्त कर पाते हैं। अरे! संसारी जीवों की गति अत्यन्त विषम है अर्थात् मोह कर्म का क्षय करना अत्यन्त दुःसाध्य है।

तम्हा सकम्मविवरे, कज्जं साहंति पाणिणो सव्वे।
तो तह जएज्ज सम्मं, जह कम्मं खिज्जइ असेसं।। 494।।
तस्मात् स्वकर्मविवरे, कार्यं साध्यन्ति प्राणिनः सर्वे।
ततस्तथा यतेत सम्यक् यथा कर्म क्षीयते अशेषं।। 494।।

अपने कर्मों को क्षय करके ही प्राणी मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रयत्न शील हो सकते हैं। अतः कर्मक्षय हेतु सतत् एवं सम्यक् प्रकार से प्रयत्नशील रहना चाहिये, जिससे अन्ततो–गत्वा मोक्ष–सुख की प्राप्ति हो सके।

कम्मक्खए उवाओ, सुयाणुसारेण पगरणे इत्थ।
लेसेण मए भणिओ, अणुट्ठियव्वो सुबुद्धीहिं।। 495।।
कर्मक्षये उपायः श्रुतानुसारेण प्रकरणे अत्र।
लेशेन मया भणितः, अनुष्ठेयः सुबुद्धिभिः।। 495।।

इस उपदेश माला प्रकरण में मैंने आगम के अनुसार कर्मक्षय के उपाय संक्षेप में बताऐ हैं। अतः सुबुद्धिजन इन उपायों के द्वारा अपने कर्मों को क्षय करने का पुरूषार्थ करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पायं धम्मत्थीणं, मज्झत्थाणं सुनिउणबुद्धीणं।
परिणमइ पगरणमिणं, न संकिलिट्ठाण जंतूणं।। 496।।
प्रायः धर्मार्थिनां, मध्यस्थानां सुनिपुणबुद्धिनां।
परिणमति प्रकरणमिदं, न संक्लिष्टानां जन्तूनाम्।। 496।।

यह प्रकरण मुख्यतः माध्यस्थभाव वाले विचारशील धार्मिक व्यक्तियों अर्थात् सुज्ञ पाठकों के लिये तो रूचि कर होगा। परन्तु राग–द्वेष ग्रसित संक्लिष्ट भाव वाले व्यक्तियों के लिए रूचिकर नहीं भी हो सकता हैं।

हेममणिचंददप्पण–सूररिसिपढमवण्णनामेहिं।
सिरिअभयसूरिसीसेहिं, विरइयं पयरणं इणमो।। 497।।
हेम मणिचन्द्रदर्पण सूरऋषिप्रथमवर्णनामभिः।
श्रीअभयसूरिशिष्यैः, विरचितं प्रकरणं इदम्।। 497।।

हेम मणिचन्द्र दर्पण सूर और ऋषि इन पदों के प्रथम अक्षर से निष्पन्न नामधारी मैं हेमचन्द्रसूरि जो अभयदेवसूरि का शिष्य हूँ उसके द्वारा यह प्रकरण विरचित हैं।

उवएसमालानामं, परियकामं सया पढंताणं।
कल्लाणरिद्धिसंसिद्धि–कारणं सुद्धहिययाणं।। 498।।
उपदेशमालानामकं, पूरितकामं सदा पठंतानाम्।
कल्याणऋद्धिसंसिद्धि–कारणं शुद्धहृदयानाम्।। 498।।

उपदेश माला नाम का यह प्रकरण सदा पाठकों के मनोरथ को पूर्ण करने वाला है और शुद्ध हृदय वालों के लिये कल्याण रूप रिद्धि–सिद्धि प्राप्त कराने वाला हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्थ वीसऽहिगारा, जीवदयाईहिं विविहअत्थेहिं।
गाहाणं पंचसया, पणुत्तरा होंति संखाए।। 499।।
इह विंशति–अधिकाराः, जीवदयादिभिः विविध अर्थैः।
गाथानां पंचशता, पंचोत्तरा भवन्ति सङ्ख्या।। 499।।

इस प्रकरण में जीवदया आदि विविध विषयों से मुक्त बीस अधिकार हैं और अर्थपूर्ण गाथाओं की संख्या पांच सौ पांच हैं।

उवएसमालकरणे, जं पुन्नं अज्जियं मए तेण।
जीवाणं होज्ज सया, जिणोवएसम्मि पडिवत्ती।। 500।।
उपदेशमालाकरणे, यत् पुण्यं अर्जितं मया तेन।
जीवानां भवेत् सदा, जिनोपदेशे प्रतिपत्तिः।। 500।।

इस उपदेशमाला की रचना करके जो पुण्य मैंने अर्जित किया है उसके परिणाम स्वरूप प्राणियों में जिनधर्म के प्रति सम्यक् श्रद्धा और आदर भाव हो।

जाव जिणसासणमिणं, जाव य धम्मो जयम्मि विप्फुरइ।
ताव पढिज्जउ एसा, भव्वेहिं सयासुहत्थीहिं।। 501।।
यावत् जिनशासनमिदं, यावत् धर्मो जगति विस्फुरति।
तावत् पठयेत एषा, भव्यैः सदा सुखार्थिभिः।। 501।।

जब तक जिन शासन है और जब तक संसार में धर्म विद्यमान रहे तब तक इस उपदेश माला को शाश्वत् सुखों की प्राप्ति के लिये भव्य प्राणी सर्वदा पढ़ते रहेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 में संचालित प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर आगरा-मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित है। इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ-साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुन: प्रतिष्ठित करना है। इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म आदि के लगभग 10,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्त- लिखित पाण्डुलिपियाँ है। यहाँ 40 पत्र-पत्रिकाएँ भी नियमित आती है।

इस परिसर में साधु-साध्वियों, शोधार्थियों और मुमुक्षुजनों के लिए अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ निवास, भोजन आदि की भी उत्तम व्यवस्था है।

विद्यापीठ में अध्ययनरत साध्वीवृन्द

पू. कनकप्रभाश्रीजी, पू. सम्यग्दर्शनाश्रीजी, पू. सम्यक्प्रभाश्रीजी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखिका परिचय

नाम	-	कमलेश कोचर
पिता	-	श्री भीकमचंदजी कोचर
माता	-	सुन्दरदेवी कोचर
जन्म	-	वि.स. 2016 फाल्गुन कृ. नवमी, दि. 21/2/1960 खडगपुर
दीक्षा	-	वि.स. 2030 बसन्त पंचमी, दि. 28/1/1974
दीक्षा नाम	-	साध्वी सम्यग्दर्शनाश्री
दीक्षा गुरू	-	आगम ज्योति प्रवर्तिनी श्री सज्जनश्रीजी म. सा.
शिक्षा गुरू	-	संघ रत्ना श्री शशिप्रभा श्री जी म. सा.
बड़ी दीक्षा	-	वि.सं. 2030 आ.सु. बारस पावापुरी (भ. महावीर निर्वाण स्थली बिहार)
बड़ी दीक्षा गुरू	-	आचार्य श्री जिन कान्तिसागर सूरिश्वरजी म. सा.
भ्राता	-	प.पू. मैत्रीप्रभसागरजी म. सा. (पू. मणिप्रभसागरजी म. सा. के शिष्य)
बहन	-	पू. श्री दिव्यदर्शनाश्री जी म.सा., पू. श्री तत्वदर्शनाश्री जी म. सा.
भाणजी	-	पू. श्री आराधनाजी (ज्ञान गच्छ)
भत्रीजी	-	पू. श्री सम्यक्प्रभा श्री जी म. सा.
प्रबल वैराग्य	-	14 वर्ष की उम्र में वैराग्य से वासित होकर संसार के सुखों को तिलांजलि देकर महाभिनिष्क्रमण पथ पर प्रयाण किया।
अध्ययन	-	साहित्य रत्न, जैन दर्शन
लेखन	-	सज्जनशतक, सम्यग्दर्शन से मोक्ष, आओ गुरू वंदन करें, आओ शब्दों से कुछ सीखें, आओ हम बने ज्ञान के स्वामी
सम्पादन	-	अनुभव की आंच, भवचक्र निवारण विधि, पंचप्रतिक्रमण सूत्र, आओ देव वन्दन करें, आओ चैत्यालय चले (प्रेस में)
अनुवाद	-	पुष्पमाला
विहार क्षेत्र	-	बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, पदयात्रा लगभग 35,000 कि.मी.
विशेषता	-	गुरू समर्पण, शिक्षण शिविर में कुशल, प्रभावक प्रवचन शक्ति, परोपकार परायणता, संघवात्सल्य, सरलता, सहिष्णुता, क्षमा, समता, करूणा, विनय, वैय्यावच्च, विवेक, प्रतिकूलता में प्रसन्नता, संघठन की बेजोड़ शक्ति आदि गुण होते हुये भी गुरू के प्रतिपूर्ण समर्पित है।

मुद्रक : आकृति आफसेट, नईपेठ, उज्जैन फोन : 0734-2561720, 98276-77780, 98272-42489

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org